जैन साधना में ध्यान

सागरमल जैन

श्रमणधारा और ध्यान

भारतीय अध्यात्मवादी परम्परा में ध्यान साधना का अस्तित्व अति प्राचीनकाल से ही रहा है। यहां तक कि अति प्राचीन नगर मोहन-जोदरो और हरप्पा से खुदाई में, जो सीलें आदि उपलब्ध हुई हैं, उनमें भी ध्यानमुद्रा में योगियों के अंकन पाये जाते हैं।[१] इस प्रकार ऐतिहासिक अध्ययन के, जो भी प्राचीनतम स्रोत हमें उपलब्ध हैं, वे सभी भारत में ध्यान की परम्परा के अति प्राचीनकाल से प्रचलित होने की पुष्टि करते हैं। उनसे यह भी सिद्ध होता है कि भारत में यज्ञ-मार्ग की अपेक्षा ध्यान मार्ग की परम्परा प्राचीन है और उसे सदैव ही आदरपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है।

औपनिषदिक परम्परा और उसकी सहवर्ती श्रमण परम्पराओं में साधना की दृष्टि से ध्यान का महत्वपूर्ण स्थान रहा था। औपनिषदिक ऋषि-गण और श्रमण-साधक अपनी दैनिक जीवनचर्या में ध्यान-साधना को स्थान देते रहे हैं - यह एक निर्विवाद तथ्य है, महावीर और बुद्ध के पूर्व भी अनेक ऐसे श्रमण साधक थे, जो ध्यान साधना की विशिष्ट विधियों के न केवल ज्ञाता थे, अपितु अपने सान्निध्य में अनेक साधकों को उन ध्यान-साधना की विधियों का अभ्यास भी करवाते थे। इन आचार्यों की ध्यान साधना की अपनी-अपनी विशिष्ट विधियाँ थीं,ऐसे संकेत भी मिलते हैं। बुद्ध अपने साधनाकाल में ऐसे ही एक ध्यान-साधक श्रमण आचार्य रामपुत्त के पास स्वयं ध्यान-साधना के अभ्यास के लिए गये थे। रामपुत्त के संबंध में त्रिपिटक साहित्य में यह भी उल्लेख मिलता है कि स्वयं भगवान् बुद्ध ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी अपनी साधना की उपलब्धियों को बताने हेतु उनसे मिलने के लिए उत्सुक थे, किन्तु तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी।[२] इन्हीं रामपुत्त का उल्लेख जैन आगम साहित्य में भी आता है। प्राकृत आगमों में सूत्रकृतांग[३] में उनके नाम के निर्देश के अतिरिक्त अन्तकृत्दशा[४], ऋषिभाषित आदि में तो उनसे संबंधित स्वतंत्र अध्याय भी रहे थे। दुर्भाग्य से अन्तकृत्दशा का वह अध्याय तो आज लुप्त हो चुका है, किन्तु ऋषिभाषित[५] में उनके उपदेशों का संकलन आज भी उपलब्ध है।

---

१) Mohenjodaro and Indus Civilization, John Marshall Vol. I. Page 52

२) Dictionary of Pali Proper Names, By J. P. Malal Sekhar (1937) Vol. I. P. 382-83

३) सूत्रकृतांग १ । ३ । ४ । २-३

४) स्थानांग १० । १३३ (इसमें अन्तकृत्दशा की प्राचीन विषयवस्तु का उल्लेख है)

५) इसिभासियाइं - अध्याय २३

६) वही, अध्याय २३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्ध और महावीर को ज्ञान का जो प्रकाश उपलब्ध हुआ वह उनकी ध्यान साधना का परिणाम ही था, इसमें आज किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है। किन्तु हमारा यह दुर्भाग्य है कि प्राचीन साहित्य में भी ध्यान साधना की इन पद्धतियों के विस्तृत विवरण आज उपलब्ध नहीं हैं, मात्र यत्र-तत्र विकीर्ण निर्देश ही हमें मिलते हैं। फिर भी जो सूचनायें उपलब्ध हैं, उनके आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि औपनिषदिक ऋषिगण और श्रमण साधक अपने आध्यात्मिक विकास के लिए ध्यान-साधना की विभिन्न पद्धतियों का अनुसरण करते थे। उनकी ध्यान-साधना पद्धतियों के कुछ अवशेष आज भी हमें योग परम्परा के साथ-साथ जैन और बौद्ध परम्पराओं में मिल जाते हैं।

जैन धर्म और ध्यान

श्रमण परम्परा की निर्ग्रन्थधारा - जो आज जैन परम्परा के नाम से जानी जाती है - अपने अस्तित्व काल से ध्यान साधना से जुड़ी हुई है। प्राकृत साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथों आचारांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित आदि में ध्यान का महत्त्व स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है, साधना में वही स्थान ध्यान का है।[१] उत्तराध्ययन सूत्र में श्रमण जीवन की दिनचर्या का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि प्रत्येक श्रमण साधक को दिन और रात्रि के दूसरे प्रहर में नियमित रूप से ध्यान करना चाहिए।[२] आज भी जैन श्रमण को निद्रात्याग के पश्चात्, भिक्षाचर्या एवं पदयात्रा से लौटने पर, गमनागमन एवं मलमूत्र आदि के विसर्जन के पश्चात् तथा प्रातःकालीन और सायंकालीन प्रतिक्रमण करते समय ध्यान करना होता है।[३] उसके आचार और उपासना के साथ कदम-कदम पर ध्यान प्रक्रिया जुड़ी हुई है।

जैन परम्परा में ध्यान का कितना महत्व है - इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि जैन तीर्थंकरों की प्रतिमायें चाहे वे खड्गासन में हों या पद्मासन में सदैव ही ध्यानमुद्रा में उपलब्ध होती हैं। आज तक कोई भी जिन प्रतिमा ध्यान-मुद्रा के अतिरिक्त किसी भी अन्य मुद्रा में उपलब्ध ही नहीं हुई है। यद्यपि तीर्थंकर या जिन प्रतिमाओं के अतिरिक्त बुद्ध की भी कुछ प्रतिमायें ध्यान मुद्रा में उपलब्ध हुई हैं किन्तु बुद्ध की अधिकांश प्रतिमायें तो ध्यानेतर मुद्राओं - यथा अभयमुद्रा, वरद-मुद्रा और उपदेश-मुद्रा में ही मिलती हैं। इसी प्रकार शिव की कुछ प्रतिमायें भी ध्यान मुद्रा में मिलती हैं - किन्तु नृत्यु मुद्रा आदि में भी शिव प्रतिमायें विपुल परिमाण में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार जहां अन्य परम्पराओं में

---

१) इसिभासियाइं (ऋषिभाषित), २२।१४

२) उत्तराध्ययन सूत्र २६।१८

३) श्रमण सूत्र (उपाध्याय अमरमुनि), प्रथम संस्करण पृ. १३३-१३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने आराध्य देवों की प्रतिमायें ध्यानेतर मुद्राओं में भी बनती रहीं, वहां तीर्थंकर या जिन प्रतिमायें मात्र ध्यानमुद्रा में ही निर्मित हुई, किसी भी अन्य मुद्रा में नहीं बनीं। जिनप्रतिमाओं के निर्माण का दो सहस्र वर्ष का इतिहास इस बात का साक्षी है कि कभी भी कोई भी जिन-प्रतिमा/तीर्थंकर प्रतिमा ध्यान-मुद्रा के अतिरिक्त किसी अन्य मुद्रा में नहीं बनाई गयी। इससे जैन परम्परा में ध्यान का क्या स्थान रहा है - यह सुस्पष्ट हो जाता है। जैनाचार्यों ने ध्यान को साधना का मस्तिष्क माना है। जिस प्रकार मस्तिष्क के निष्क्रिय हो जाने पर मानव जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जाता है, उसी प्रकार ध्यान के अभाव में जैन साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

ध्यान - साधना की आवश्यकता

मानव मन स्वभावतः चंचल माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में मन को दुष्ट अश्व की संज्ञा दी गई, जो कुमार्ग में भागता है।[१] गीता में मन को चंचल बताते हुए कहा गया है कि उसको निग्रहीत करना वायु को रोकने के समान अति कठिन है।[२] चंचल मन में विकल्प उठते रहते हैं - इन्हीं विकल्पों के कारण चैत्तसिक आकुलता या अशान्ति का जन्म होता है। यह आकुलता ही चेतना में उद्विग्नता या तनाव की उपस्थिति की सूचक है। चित्त की यह उद्विग्न या तनावपूर्ण स्थिति ही असमाधि या दुःख है। इसी चैत्तसिक पीड़ा या दुःख से विमुक्ति पाना समग्र आध्यात्मिक साधना पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य है। इसे ही निर्वाण या मुक्ति कहा गया है।

मनुष्य में दुःख-विमुक्ति की भावना सदैव ही रही है। यह स्वाभाविक है, आरोपित नहीं है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति तनाव या उद्विग्नता की स्थिति में जीना नहीं चाहता है। उद्विग्नता चेतना की विभावदशा है। विभावदशा से स्वभाव में लौटना यही साधना है। पूर्व या पश्चिम की सभी अध्यात्मप्रधान साधना विधियों का लक्ष्य यही रहा है कि चित्त को आकुलता, उद्विग्नता या तनावों से मुक्त करके, उसे निराकुल, अनुद्विग्न चित्तदशा या समाधिभाव में स्थित किया जाये। इसलिये साधना विधियों का लक्ष्य निर्विकार और निर्विकल्प समता युक्त चित्त की उपलब्धि ही है। इसे ही समाधि/सामायिक (प्राकृतसमाहि) कहा गया है। ध्यान इसी समाधि या निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि का अभ्यास है। यही कारण है कि वे सभी साधना पद्धतियाँ जो चित्त को अनुद्विग्न, निराकुल, निर्विकार और निर्विकल्प या दूसरे शब्दों में समत्व-युक्त बनाना चाहती हैं, ध्यान को अपनी साधना में अवश्य स्थान देती हैं।

---

१) उत्तराध्ययन सूत्र २३।५५-५६

२) भगवद्गीता ६।३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान का स्वरूप एवं प्रक्रिया

जैनाचार्यों ने ध्यान को 'चित्तनिरोध' कहा है।[१] चित्त का निरोध हो जाना ही ध्यान है। दूसरे शब्दों में यह मन की चंचलता को समाप्त करने का अभ्यास है। जब ध्यान सिद्ध हो जाता है तो चित्त की चंचलता स्वतः ही समाप्त हो जाती है। योगदर्शन में 'योग' को परिभाषित करते हुए भी कहा गया है कि चित्तवृत्ति का निरोध ही 'योग' है। स्पष्ट है कि चित्त की चंचलता की समाप्ति या चित्तवृत्ति का निरोध ध्यान से ही सम्भव है। अतः ध्यान को साधना का आवश्यक अंग माना गया है।

गीता में मन की चंचलता के निरोध को वायु को रोकने के समान अति कठिन माना गया है।[२] उसमें उसके निरोध के दो उपाय बताये गये हैं - १. अभ्यास, २. वैराग्य। उत्तराध्ययन में मन रूपी दुष्ट अश्व को निग्रहीत करने के लिए श्रुत रूपी रस्सियों का प्रयोग आवश्यक बताया गया है।[३] चंचल चित्त की संकल्प-विकल्पात्मक तरंगें या वासनाजन्य आवेग सहज ही समाप्त नहीं हो जाते हैं। पहले उनकी भाग-दौड़ को समाप्त करना होता है। किन्तु यह वासनोन्मुख सक्रिय-मन या विक्षोभित चित्त निरोध के संकल्प मात्र से नियन्त्रित नहीं हो पाता है। पुनः यदि उसे बलात् रोकने का प्रयत्न किया जाता है तो वह अधिक विक्षुब्ध होकर मनुष्य को पागलपन के कंगार पर पहुँचा देता है, जैसे तीव्र गति से चलते हुए वाहन को यकायक रोकने का प्रयत्न भयंकर दुर्घटना का ही कारण बनता है, उसी प्रकार चित्त की चंचलता का यकायक निरोध विक्षिप्तता का कारण बनता है। प्रथमतः मानव मन की गतिशीलता को नियंत्रित कर उसकी गति की दिशा बदलनी होती है। ज्ञान या विवेकरूपी लगाम के द्वारा उस मन रूपी दुष्ट अश्व को कुमार्ग से सन्मार्ग की दिशा में मोड़ा जाता है। इससे उसकी सक्रियता यकायक समाप्त तो नहीं होती, किन्तु उसकी दिशा बदल जाती है। ध्यान में भी यही करना होता है। ध्यान में सर्व प्रथम मन को वासना रूपी विकल्पों से मोड़कर धर्म-चिन्तन में लगाया जाता है - फिर क्रमशः इस चिन्तन की प्रक्रिया को शिथिल या क्षीण किया जाता है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब मन पूर्णतः निष्क्रिय हो जाता है, उसकी भागदौड़ समाप्त हो जाती है। ऐसा मन, मन न रहकर 'अमन' हो जाता है। मन को 'अमन' बना देना ही ध्यान है।

इस प्रकार चैत्तसिक तनावों या विक्षोभों को समाप्त करने के लिए अथवा निर्विकल्प और शान्त चित्त-दशा की उपलब्धि के लिए ध्यान साधना आवश्यक है।

---

१) तत्त्वार्थ सूत्र ९।२७

२) गीता ६।३४

३) उत्तराध्ययन सूत्र २३।५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके द्वारा संकल्प-विकल्पों में विभक्त चित्त को केन्द्रित किया जाता है। विविध वासनाओं, आकांक्षाओं और इच्छाओं के कारण चेतना-शक्ति अनेक रूपों में विखण्डित होकर स्वतः में ही संघर्षशील हो जाती है।[१] उस शक्ति का यह बिखराव ही हमारा आध्यात्मिक पतन है। ध्यान इस चैत्तसिक विघटन को समाप्त कर चेतना को केन्द्रित करता है। चूंकि वह विघटित चेतना को संगठित करता है। इसीलिए वह 'योग' (Unification) है। ध्यान चेतना के संगठन की कला है। संगठित चेतना ही शक्तिस्रोत है, इसीलिए यह माना जाता है कि ध्यान से अनेक आत्मिक लब्धियां या सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

चित्तधारा जब वासनाओं एवं आकांक्षाओं के मार्ग से बहती है तो वह वासनाओं, आकांक्षाओं, इच्छाओं की स्वाभाविक बहुविधता के कारण अनेक धाराओं में विभक्त होकर निर्बल हो जाती है। ध्यान इन विभक्त एवं निर्बल चित्तधाराओं को एक दिशा में मोड़ने का प्रयास है। जब ध्यान की साधना या अभ्यास से चित्तधारा एक दिशा में बहने लगती है, तो न केवल वह सबल होती है, अपितु नियंत्रित होने से उसकी दिशा भी सम्यक् होती है। जिस प्रकार बांध विकीर्ण जलधाराओं को एकत्रित कर उन्हें सबल और सुनियोजित करता है, उसी प्रकार ध्यान भी हमारी चेतनाधारा को सबल और सुनियोजित करता है। जिस प्रकार बांध द्वारा सुनियोजित जल-शक्ति का सम्यक् उपयोग सम्भव हो पाता है, उसी प्रकार ध्यान द्वारा सुनियोजित चेतनशक्ति का सम्यक् उपयोग सम्भव है।

संक्षेप में आत्मशक्ति के केन्द्रीकरण एवं उसे सम्यक् दिशा में नियोजित करने के लिए ध्यान साधना आवश्यक है। वह चित्त वृत्तियों की निरर्थक भागदौड़ को समाप्त कर हमें मानसिक विक्षोभों एवं विकारों से मुक्त रखता है। परिणामतः वह आध्यात्मिक शान्ति और निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि का अन्यतम साधन है।

ध्यान के पारम्पारिक एवं व्यावहारिक लाभ

ध्यानशतक (झाणज्झयन) में ध्यान से होनेवाले पारम्परिक एवं व्यावहारिक लाभों की विस्तृत चर्चा है। उसमें कहा गया है कि धर्मध्यान से शुभास्रव, संवर, निर्जरा और देवलोक के सुख प्राप्त होते हैं। शुक्ल ध्यान के भी प्रथम दो चरणों का परिणाम शुभास्रव एवं अनुत्तर देवलोक के सुख हैं, जबकि शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो चरणों का फल मोक्ष या निर्वाण है। यहां यह स्मरण रखने योग्य है कि जब तक ध्यान में विकल्प है, आकांक्षा है, चाहे वह प्रशस्त ही क्यों न हो, तब तक वह शुभास्रव का कारण तो होगा ही।

---

१) पुढो छंदा इह माणवा, पुढो दुक्खं पवेदितं। - आचारांग १।५।२।२५

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरइत्तए - आचारांग ५।३।२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी यह शुभास्रव अन्ततोगत्वा मुक्ति का निमित्त होने से उपादेय ही माना गया है। ऐसा आस्रव मिथ्यात्व के अभाव के कारण संसार की अभिवृद्धि का कारण नहीं बनता है।[१]

पुनः ध्यान के लाभों की चर्चा करते हुए उसमें कहा गया है कि जिस प्रकार जल वस्त्र के मल को धोकर उसे निर्मल बना देता है, उसी प्रकार ध्यानरूपी जल आत्मा के कर्मरूपी मल को धोकर उसे निर्मल बना देता है। जिस प्रकार अग्नि लोहे के मैल को दूर कर देती है,[२] जिस प्रकार वायु से प्रेरित अग्नि दीर्घकाल से संचित काष्ठ को जला देती है, उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से प्रेरित साधनारूपी अग्नि पूर्वभवों के संचित कर्म संस्कारों को नष्ट कर देती है। उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि आत्मा पर लगे हुए कर्मरूपी मल को दूर कर देती है।[३] जिस प्रकार वायु से ताडित मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं। उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से ताडित कर्मरूपी मेघ शीघ्र विलीन हो जाते हैं।[४] संक्षेप में ध्यान साधना से आत्मा कर्मरूपी मल एवं आवरण से मुक्त होकर अपनी शुद्ध निर्विकार ज्ञाताद्रष्टा अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

ध्यान के इन चार अलौकिक या आध्यात्मिक लाभों के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने उसके ऐहिक, मनोवैज्ञानिक लाभों की भी चर्चा की है। वह कहता है कि जिसका चित्त ध्यान में संलग्न है, वह क्रोधादि कषायों से उत्पन्न होनेवाले ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से पीडित नहीं होता है।[५] ग्रन्थकार के इस कथन का रहस्य यह है कि जब ध्यान में आत्मा अप्रमत्त चेता होकर ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित होता है, तो उस अप्रमत्तता की स्थिति में न तो कषाय ही क्रियाशील होते हैं और न उनसे उत्पन्न ईर्ष्या, द्वेष, विषाद आदि भाव ही उत्पन्न होते हैं। ध्यानी व्यक्ति पूर्व संस्कारों के कारण उत्पन्न होनेवाले कषायों के विपाक को मात्र देखता है, किन्तु उन भावों में परिणत नहीं होता है। अतः काषायिक भावों की परिणति नहीं होने से उसके चित्त के मानसिक तनाव समाप्त हो जाते हैं। ध्यान मानसिक तनावों से मुक्ति का अन्यतम साधन है। ध्यानशतक (झाणज्झयण) के अनुसार ध्यान से न केवल आत्म विशुद्धि और मानसिक तनावों से मुक्ति मिलती है, अपितु शारीरिक पीड़ायें भी कम हो जाती हैं। उसमें लिखा है कि जो चित्त ध्यान में अतिशय स्थिरता प्राप्त कर चुका है, वह शीत, उष्ण आदि शारीरिक दुःखों से भी विचलित नहीं होता है। वह उन्हें निराकुलतापूर्वक सहन कर लेता है।[६] यह हमारा

---

१) ध्यान शतक (झाणज्झयण) ९३-९६
२) वही ९७-१००
३) वही १०१
४) वही १०२
५) ध्यानशतक (वीरसेवामंदिर) १०३
६) वही १०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यावहारिक अनुभव है कि जब हमारी चित्तवृत्ति किसी विशेष दिशा में केन्द्रित होती है तो हम शारीरिक पीडाओं को भूल जाते हैं; जैसे एक व्यापारी व्यापार में भूख-प्यास आदि को भूल जाता है। अतः ध्यान में दैहिक पीड़ाओं का एहसास भी अल्पतम हो जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग, जो ध्यान साधना की अग्रिम स्थिति है, के लाभों की चर्चा करते हुए आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है कि कायोत्सर्ग के निम्न पांच लाभ हैं[१] १) देह जाड्य शुद्धि - श्लेष्म एवं चर्बी के कम हो जाने से देह की जड़ता समाप्त हो जाती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म, चर्बी आदि नष्ट होते हैं, अतः उनसे उत्पन्न होनेवाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है। २) मति जाड्य शुद्धि - कायोत्सर्ग में मन की वृत्ति केन्द्रित हो जाती है, उससे बौद्धिक जड़ता क्षीण होती है। ३) सुख-दुःख तितिक्षा, (समताभाव) ४) कायोत्सर्ग में स्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षाओं या भावनाओं का स्थिरतापूर्वक अभ्यास कर सकता है। ५) ध्यान, कायोत्सर्ग में शुभ ध्यान का अभ्यास सहज हो जाता है। इन लाभों में न केवल आध्यात्मिक लाभों की चर्चा है अपितु मानसिक और शारीरिक लाभों की भी चर्चा है। वस्तुतः ध्यान साधना की वह कला है जो न केवल चित्त की निरर्थक भाग-दौड़ को नियंत्रित करती है, अपितु वाचिक और कायिक (दैहिक) गतिविधियों को भी नियंत्रित कर व्यक्ति को अपने आप से जोड़ देती है। हमें एहसास होता है कि हमारा अस्तित्व चैत्तसिक और दैहिक गतिविधियों से भी ऊपर है और हम उनके न केवल साक्षी हैं, अपितु नियामक भी हैं।

ध्यान आत्मसाक्षात्कार की कला

मनुष्य के लिये, जो कुछ भी श्रेष्ठतम और कल्याणकारी है, वह स्वयं अपने को जानना और अपने में जीना है। आत्म बोध से महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठतम अन्य कोई बोध है ही नहीं। आत्म साक्षात्कार या आत्मज्ञान ही साधना का सारतत्त्व है। साधना का अर्थ है अपने आप के प्रति जागना। वह कोऽहं से सोऽहं तक की यात्रा है। साधना की इस यात्रा में अपने आप के प्रति जागना सम्भव होता है ध्यान के द्वारा। ध्यान में आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा को जानता है। यह अपने आप के सम्मुख होता है। ध्यान में ज्ञाता अपनी ही वृत्तियों, भावनाओं, आवेगों और वासनाओं को ज्ञेय बनाकर वस्तुतः अपना ही दर्शन करता है। यद्यपि यह दर्शन तभी संभव होता है, जब हम इनका अतिक्रमण कर जाते हैं, अर्थात् इनके प्रति कर्ताभाव से मुक्त होकर साक्षी भाव जगाते हैं। अतः ध्यान आत्मा के दर्शन की कला है। ध्यान ही वह विधि है, जिसके द्वारा हम सीधे अपने ही सम्मुख होते हैं, इसे ही आत्म साक्षात्कार कहते हैं। ध्यान जीव में 'जिन' का, आत्मा से परमात्मा का दर्शन कराता है।

---

१) आवश्यकनिर्युक्ति १४६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान की इस प्रक्रिया में आत्मा के द्वारा परमात्मा (शुद्धात्मा) के दर्शन के पूर्व सर्व प्रथम तो हम अपने 'वासनात्मक स्व' (id) का साक्षात्कार होता है - दूसरे शब्दों में हम अपने ही विकारों और वासनाओं के प्रति जागते हैं। जागरण के इस प्रथम चरण में हम उनकी विद्रूपता का बोध होता है। हमें लगता है कि ये हमारे विकार भाव हैं - विभाव हैं, क्योंकि हममें ये 'पर' के निमित्त से होते हैं। यही विभाव दशा का बोध साधना का दूसरा चरण है। साधना के तीसरे चरण में साधक विभाव से रहित शुद्ध आत्म दशा की अनुभूति करता है - यही परमात्म दर्शन है। स्वभावदशा में रमण है। यहां यह विचारणीय है कि ध्यान इस आत्म-दर्शन में कैसे सहायक होता है?

ध्यान में शरीर को स्थिर रखकर आंख बन्द करनी होती है। जैसे ही आंख बन्द होती है-व्यक्ति का सम्बन्ध बाह्य जगत से टूटकर अन्तर्जगत से जुडता है, अन्तर का परिदृश्य सामने आता है, अब हमारी चेतना का विषय बाह्य वस्तुएं न होकर मनोसृजनाएं होती है। जब व्यक्ति इन मनोसृजनाओं (संकल्प-विकल्पों) का द्रष्टा बनता है, उसे एक ओर इनकी पर-निमित्तता (विभावरूपता) का बोध होता है तथा दूसरी ओर अपने साक्षी स्वरूप का बोध होता है। आत्मअनात्म का विवेक या स्व-पर के भेद का ज्ञान होता है। कर्ता-भोक्ता भाव के विकल्प क्षीण होने लगते हैं। एक निर्विकल्प आत्म-दशा की अनुभूति होती है। दूसरे शब्दों में मन की भाग-दौड समाप्त हो जाती है। मनोसृजनाएं या संकल्प-विकल्प विलीन होने लगते हैं। चेतना की सभी विकलताएं समाप्त हो जाती हैं। मन आत्मा में विलीन हो जाता है। सहज-समाधि प्रकट होती है। इस प्रकार आकांक्षाओं, वासनाओं, संकल्प-विकल्पों एवं तनावों से मुक्त होने पर एक अपरिमित निरपेक्ष आनन्द की उपलब्धि होती है। आत्मा अपने चिदानन्द स्वरूप में लीन रहता है। इस प्रकार ध्यान आत्मा को परमात्मा या शुद्धात्मा से जोड़ता है। अतः वह आत्मसाक्षात्कार या परमात्मा के दर्शन की एक कला है।

ध्यान मुक्ति का अन्यतम कारण

जैनधर्म में ध्यान को मुक्ति का अन्यतम कारण माना जा सकता है। जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक विकास के जिन १४ सोपानों (गुणस्थानों) का उल्लेख किया है, उनमें अन्तिम गुणस्थान को अयोगी केवली गुण-स्थान कहा गया है। अयोगी केवली गुण-स्थान वह अवस्था है जिसमें वीतराग-आत्मा अपने काययोग, वचनयोग, मनोयोग अर्थात शरीर, वाणी और मन की गतिविधियों का निरोध कर लेता है और उनके निरुद्ध होने पर ही वह मुक्ति या निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। यह प्रक्रिया सम्भव है शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण व्युपरत क्रिया निवृत्ति के द्वारा। अतः ध्यान मोक्ष का अन्यतम कारण है। जैन परम्परा में ध्यान में स्थित होने के पूर्व जिन पदों का उच्चारण किया जाता है वे निम्न हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि[१] -

अर्थात "मैं शरीर से स्थिर होकर, वाणी से मौन होकर, मन को ध्यान में नियोजित कर शरीर के प्रति ममत्व का परित्याग करता हूँ।" यहां हमें स्मरण रखना चाहिए कि अप्पाणं वोसिरामि का अर्थ, आत्मा का विसर्जन करना नहीं है, अपितु देह के प्रति अपनेपन के भाव का विसर्जन करना है। क्योंकि विसर्जन या परित्याग आत्मा का नहीं, अपनेपन के भाव अर्थात ममत्व बुद्धि का होता है। जब कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो जाता है तभी ध्यान की सिद्धि होती है और जब ध्यान सिद्ध हो जाता है तो आत्मा अयोग दशा अर्थात मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अतः यह स्पष्ट है कि ध्यान मोक्ष का अन्यतम कारण है।

जैन परम्परा में ध्यान आन्तरिक तप का एक प्रकार है। इस आन्तरिक तप को आत्म-विशुद्धि का कारण माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि "आत्मा तप से परिशुद्ध होती है।[२] सम्यक् ज्ञान से वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध होता है। सम्यक् दर्शन से तत्त्व-श्रद्धा उत्पन्न होती है। सम्यक् चारित्र आस्रव का निरोध करता है। किन्तु इन तीनों से भी मुक्ति सम्भव नहीं होती, मुक्ति का अन्तिम कारण तो निर्जरा है। सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा हो जाना ही मुक्ति है और कर्मों की तप से ही निर्जरा होती है। अतः ध्यान तप का एक विशिष्ट रूप है, जो आत्मशुद्धि का अन्यतम कारण है।

वैसे यह भी कहा जाता है कि आत्मा व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान में आरूढ होकर ही मुक्ति को प्राप्त होता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि जैन साधना विधि में ध्यान मुक्ति का अन्यतम कारण है। ध्यान एक ऐसी अवस्था है जब आत्मा पूर्ण रूप से 'स्व' में स्थित होता है और आत्मा का 'स्व' में स्थित होना ही मुक्ति या निर्वाण की अवस्था है। अतः ध्यान ही मुक्ति बन जाता है।

योग दर्शन में ध्यान को समाधि का पूर्व चरण माना गया है। उसमें भी ध्यान से ही समाधि की सिद्धि होती है। ध्यान जब अपनी पूर्णता पर पहुंचता है तो वही समाधि बन जाता है। ध्यान की इस निर्विकल्प दशा को न केवल जैन-दर्शन में, अपितु सम्पूर्ण श्रमण परम्परा में और न केवल सम्पूर्ण श्रमण परम्परा में अपितु सभी धर्मों की साधना विधियों में मुक्ति का अंतिम उपाय माना गया है।

योग चाहे चित्त वृत्तियों के निरोध रूप में निर्विकल्प समाधि हो या आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला हो, वह ध्यान ही है।

---

१) आवश्यकसूत्र - आगारसूत्र (श्रमणसूत्र-अमरमुनि) प्र. सं. पृ. ३७६

२) उत्तराध्ययनसूत्र २८/३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान और समाधि-

सर्वार्थ-सिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कोष्ठागार में लगी हुई आग को शान्त करना आवश्यक है, उसी प्रकार मुनि-जीवन के शीलव्रतों में लगी हुई वासना या आकांक्षारूपी अग्नि का प्रशमन करना भी आवश्यक है। यही समाधि है।[१] धवला में आचार्य वीरसेन ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सम्यक् अवस्थिति को ही समाधि कहा है।[२] वस्तुतः चित्तवृत्ति का उद्वेलित होना ही असमाधि है और उनकी इस उद्विग्नता का समाप्त हो जाना ही समाधि है। उदाहरण के रूप में जब वायु के संयोग से जल तरंगायित होता है तो उस तरंगित जल में रही हुई वस्तुओं का बोध नहीं होता, उसी प्रकार तनावयुक्त उद्विग्न चित्त में आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता है। चित्त की इस उद्विग्नता का या तनाव युक्त स्थिति का समाप्त होना ही समाधि है। ध्यान भी वस्तुतः चित्त की वह निष्प्रकम्प अवस्था है जिसमें आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षी होता है। वह चित्त की समत्वपूर्ण स्थिति है। अतः ध्यान और समाधि समानार्थक है; फिर भी दोनों में एक सूक्ष्म अन्तर है। वह अन्तर इस रूप में है कि ध्यान समाधि का साधन है और समाधि साध्य है। योगदर्शन के अष्टांग योग में समाधि का पूर्व चरण ध्यान माना गया है। ध्यान जब सिद्ध हो जाता है, तब वह समाधि बन जाता है। वस्तुतः दोनों एक ही है।[३] ध्यान की पूर्णता समाधि में है। यद्यपि दोनों मे ही चित्तवृत्ति की निष्प्रकंपता या समत्व की स्थिति आवश्यक है। एक में उस निष्प्रकम्पता या समत्व का अभ्यास होता है और दूसरे में वह अवस्था सहज हो जाती है।

ध्यान और योग

यहां ध्यान का योग से क्या संबंध है? यह भी विचारणीय है। जैन परम्परा में सामान्यतया मन, वाणी और शरीर की गतिशीलता को योग कहा जाता है।[४] उसके अनुसार सामान्य रूप से समग्र साधना और विशेष रूप से ध्यान-साधना का प्रयोजन योग-निरोध ही है। वस्तुतः मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओं में जिन्हें जैन परम्परा में योग कहा गया है, मन की प्रधानता होती है। वाचिक योग और कायिक-योग, मनोयोग पर ही निर्भर करते हैं। जब मन की चंचलता समाप्त होती है तो सहज ही शारीरिक और वाचिक क्रियाओं में शैथिल्य आ जाता है, क्योंकि उनके मूल में व्यक्त या अव्यक्त मन ही है। अतः मन की सक्रियता के निरोध से ही योग-निरोध संभव है। योग-दर्शन भी जो योग पर सर्वाधिक बल देता है, यह मानता है कि चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।[५] वस्तुतः जहां चित्त की चंचलता समाप्त होती है, वहीं साधना की पूर्णता है और

---

१) तत्त्वार्थ वार्तिक ६।२४।८

२) धवला पुस्तक ८, पृ. ८८ (दंसण-णाण-चरित्तेसु सम्ममवट्ठाणं समाही)

३) योग : समाधि : ध्यानमित्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६।१।१२

४) कायवाङ्मनः कर्म योगः। तत्त्वार्थसूत्र ६।१

५) योगश्चित्त वृत्ति निरोधः। योगसूत्र १।२ (पतंजलि)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वही पूर्णता ध्यान है। चित्त की चंचलता अथवा मन की भाग दौड़ को समाप्त करना ही जैन-साधना और योग- साधना दोनों का लक्ष्य है। इस दृष्टि से देखें तो जैन दर्शन में ध्यान की जो परिभाषा दी जाती है वही परिभाषा योग दर्शन में योग की दी जाती है। इस प्रकार ध्यान और योग पर्यायवाची बन जाते हैं।

योग शब्द का एक अर्थ जोड़ना भी है।[१] इस दृष्टि से आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला को योग कहा गया है और इसी अर्थ से योग को मुक्ति का साधन माना गया है। अपने इस दूसरे अर्थ में भी योग शब्द ध्यान का समानार्थक ही सिद्ध होता है, क्योंकि ध्यान ही साधक को अपने में ही स्थित परमात्मा (शुद्धात्मा) या मुक्ति से जोड़ता है। वस्तुतः जब चित्तवृत्तियों की चंचलता समाप्त हो जाती है चित्त प्रशान्त और निष्प्रकम्प हो जाता है, तो वही ध्यान होता है, वही समाधि होता है और उसे ही योग कहा जाता है। किन्तु जब कार्य-कारण भाव अथवा साध्यसाधन की दृष्टि से विचार करते हैं तो ध्यान साधन होता है, समाधि साध्य होती है। साधन से साध्य की उपलब्धि ही योग कही जाती है।

ध्यान और कायोत्सर्ग -

जैन साधना में तप के वर्गीकरण में आभ्यन्तर तप के जो छह प्रकार बतलाए गये हैं, उनमें ध्यान और कायोत्सर्ग इन दोनों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है।[२] इसका तात्पर्य यह है कि जैन आचार्यों की दृष्टि में ध्यान और कायोत्सर्ग दो भिन्न भिन्न स्थितियाँ हैं। ध्यान चेतना को किसी विषय पर केन्द्रित करने का अभ्यास है तो कायोत्सर्ग शरीर के नियन्त्रण का एक अभ्यास। यद्यपि यहां काया (शरीर) व्यापक अर्थ में ग्रहीत है। स्मरण रहे कि मन और वाक् ये शरीर के आश्रित ही हैं। शाब्दिक दृष्टि से कायोत्सर्ग शब्द का अर्थ होता है 'काया' का उत्सर्ग अर्थात देह-त्याग। लेकिन जब तक जीवन है तब तक शरीर का त्याग तो संभव नहीं है। अतः कायोत्सर्ग का मतलब है देह के प्रति ममत्व का त्याग, दूसरे शब्दों में शारीरिक गतिविधियों का कर्ता न बनकर द्रष्टा बन जाना। वह शरीर की मात्र ऐच्छिक गतिविधियों का नियन्त्रण है। शारीरिक गतिविधियाँ भी दो प्रकार की होती हैं- एक स्वचालित और दूसरी ऐच्छिक। कायोत्सर्ग में स्वचालित गतिविधियों का नहीं, अपितु ऐच्छिक गतिविधियों का नियन्त्रण किया जाता है। सर्ग करने से पूर्व जो आगारसूत्र का पाठ बोला जाता है उसमें श्वसन-प्रक्रिया, छींक, जम्भाई आदि स्वचालित शारीरिक गतिविधियों का निरोध नहीं करने का ही स्पष्ट उल्लेख है।[३] अतः कायोत्सर्ग

---

१) 'युजपी योगे' हेमचन्द्र धातुमाला, गण ७

२) उत्तराध्ययन सूत्र ३०।३० (झाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो)

३) आवश्यकसूत्र-आगारसूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐच्छिक शारीरिक गतविधियों के निरोध का प्रयत्न है। यद्यपि ऐचिछक गतिविधियों का केन्द्र मानवीय मन अथवा चेतना ही है। अतः कायोत्सर्ग की प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया के साथ अपरिहार्य रूप से जुड़ी हुई है।

एक अन्य दृष्टि से कायोत्सर्ग को देह के प्रति निर्ममत्व की साधना भी कहा जा सकता है। वह देह में रहकर भी कर्ताभाव से उपर उठकर द्रष्टाभाव में स्थित होना है। यह भी स्पष्ट है कि चित्तवृत्तियों के विचलन में शरीर भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। हम शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से ही बाह्य विषयों से जुड़ते हैं और उनकी अनुभूति करते हैं। इस अनुभूति का अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव हमारी चित्तवृत्ति पर पडता है। जो चित्त विचलन का या राग-द्वेष का कारण होता है।

चित्त (मन) और ध्यान

जैन दर्शन में मन की चार व्यवस्थाएं - जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में चित्त या मन ध्यान साधना की आधारभूमि है, अतः चित्त की विभिन्न व्यवस्थाओं पर व्यक्ति के ध्यान साधना के विकास को आँका जा सकता है। जैन परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने मन की चार अवस्थाएँ मानी हैं १) **विक्षिप्त** मन, २) यातायात मन, ३) श्लिष्ट मन और ४) सुलीन मन।[१]

१) विक्षिप्त मन - यह मन की अस्थिर अवस्था है, इसमें चित्त चंचल होता है, इधर उधर भटकता रहता है, इसके आलम्बन प्रमुखतया बाह्य विषय ही होते हैं। इसमें संकल्प-विकल्प या विचारों की भाग-दौड़ मची रहती है, अतः इस अवस्था में मानसिक शान्ति का अभाव होता है। यह चित्त पूरी तरह बहिर्मुखी होता है।

२) यातायात मन - यातायात मन कभी बाह्य विषयों की ओर जाता है तो कभी अपने में स्थित होने का प्रयत्न करता है। यह योगाभ्यास के प्रारम्भ की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त अपने पूर्वाभ्यास के कारण बाहरी विषयों की ओर दौड़ता रहता है, वैसे थोडे बहुत प्रयत्न से उसे स्थिर कर लिया जाता है। कुछ समय उस पर स्थिर रहकर पुनः बाह्य विषयों के संकल्प-विकल्प में उलझ जाता है। जब-जब कुछ स्थिर होता है तब मानसिक शान्ति एवं आनन्द का अनुभव करने लगता है। यातायात चित्त कथंचित् अन्तर्मुखी और कथंचित बहिर्मुखी होता है।

३) श्लिष्ट मन - यह मन की स्थिरता की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त की स्थिरता का आधार या आलम्बन विषय होता है। इसमें जैसे जैसे स्थिरता आती है, आनन्द भी बढ़ता जाता है।

---

१) योगशास्त्र, १२/२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४) सुलीन मन - यह मन की वह अवस्था है, जिसमें संकल्प-विकल्प एवं मानसिक वृत्तियाँ का लय हो जाता है। इसको मन की निरुद्धावस्था भी कहा जा सकता है। यह परमानन्द की अवस्था है, क्योंकि इसमें सभी वासनाओं का विलय हो जाता है।

बौद्ध दर्शन में चित्त की चार अवस्थाएँ - अभिधम्मत्थसंगहो के अनुसार बौद्ध दर्शन में भी चित्त (मन) चार प्रकार का है-१. कामावचर, २. रूपावचर, ३. अरूपावचर और ४. लोकोत्तर।[१]

१) कामावचर चित्त - यह चित्त की वह अवस्था है, जिसमें कामनाओं और वासनाओं का प्राधान्य होता है। इसमें वितर्क एवं विचारों की अधिकता होती है। मन सांसारिक भोगों के पीछे भटकता रहता है।

२) रूपावचर चित्त - इस अवस्था में वितर्क-विचार तो होते हैं, लेकिन एकाग्रता का प्रयत्न भी होता है। चित्त का आलम्बन बाह्य स्थूल विषय ही होते हैं। यह योगाभ्यासी चित्त की प्राथमिक अवस्था है।

३) अरूपावचर चित्त - इस अवस्था में चित्त का आलम्बन रूपवान बाह्य पदार्थ नहीं है। इस स्तर पर चित्त की वृत्तियों में स्थिरता होती है लेकिन उसकी एकाग्रता निर्विषय नहीं होती। उसके विषय अत्यन्त सूक्ष्म जैसे अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान या अकिंचनता होते हैं।

४) लोकोत्तर चित्त - इस अवस्था में वासना-संस्कार, राग-द्वेष एवं मोह का प्रहाण हो जाता है। चित्त विकल्पशून्य हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति कर लेने पर निश्चित रूप से अर्हत पद एवं निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

योगदर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाएँ - योगदर्शन में चित्तभूमि (मानसिक अवस्था) के पाँच प्रकार हैं:- १. क्षिप्त, २. मूढ़, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र और ५. निरुद्ध।[२]

१) क्षिप्त चित्त - इस अवस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है और एक विषय से दूसरे विषय पर दौडता रहता है। स्थिरता नहीं रहती है। यह अवस्था योग के अनुकूल नहीं है, क्योंकि इसमें मन और इन्द्रियों पर संयम नहीं रहता।

२) मूढ चित्त - इस अवस्था में तम की प्रधानता रहती है और इससे निद्रा, आलस्य आदि का प्रादुर्भाव होता है। निद्रावस्था में चित्त की वृत्तियों का कुछ काल के

---

१) अभिधम्मत्थसंगहो, पृ. १

२) भारतीय दर्शन (दत्ता) पृ. १९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए तिरोभाव हो जाता है, परन्तु यह अवस्था योगावस्था नहीं है। क्योंकि इसमें आत्मा साक्षी भाव में नहीं होता है।

३) **विक्षिप्त चित्त** - विक्षिप्तावस्था में मन थोड़ी देर के लिए एक विषय में लगता है, पर तुरन्त ही अन्य विषय की ओर दौड़ जाता है और पहला विषय छूट जाता है। यह चित्त की आंशिक स्थिरता की अवस्था है।

४) **एकाग्र चित्त** - यह वह अवस्था है, जिसमें चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। यह किसी वस्तु पर मानसिक केन्द्रीकरण या ध्यान की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त किसी विषय पर विचार या ध्यान करता रहता है। इसलिए इसमें भी सभी चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता, तथापि यह योग की पहली सीढ़ी है।

५) **निरुद्ध चित्त**- इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियाँ का (ध्येय विषय तक का भी) लोप हो जाता है और चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर शांत अवस्था में आ जाता है।

जैन, बौद्ध और योग दर्शन में मन की इन विभिन्न अवस्थाओं के नामों में चाहे अन्तर हो, लेकिन उनके मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

जैन दर्शन	बौद्ध दर्शन	योगदर्शन
विक्षिप्त	कामावचर	क्षिप्त एवं मूढ़
यातायात	रूपावचर	विक्षिप्त
श्लिष्ट	अरूपावचर	एकाग्र
सुलीन	लोकोत्तर	निरुद्ध

जैन दर्शन का विक्षिप्त मन, बौद्ध दर्शन का कामावचर चित्त और योगदर्शन के क्षिप्त और मूढ़ चित्त समानार्थक हैं, क्योंकि सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में वासनाओं एवं कामनाओं की बहुलता होती है। इसी प्रकार जैन दर्शन का यातायात मन, बौद्ध दर्शन का रुपावचर चित्त और योगदर्शन का विक्षिप्त चित्त भी समानार्थक हैं, सामान्यतया सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में अल्पकालिक स्थिरता होती है तथा वासनाओं के वेग में थोडी कमी अवश्य हो जाती है। इसी प्रकार जैनदर्शन का श्लिष्ट मन, बौद्ध-दर्शन का अरूपावचर चित्त और योगदर्शन का एकाग्रचित्त भी समान ही हैं। सभी ने इसको मन की स्थिरता की अवस्था कहा है। चित्त की अन्तिम अवस्था जिसे जैन दर्शन में सुलीनमन, बौद्धदर्शन में लोकोत्तर चित्त और योगदर्शन में निरुद्ध चित्त कहा गया है भी समान अर्थ के द्योतक हैं। इसमें वासना, संस्कार एवं संकल्प-विकल्प का पूर्ण अभाव हो जाता है। ध्यान साधना का लक्ष्य चित्त की इस वासना संस्कार एवं संकल्प-विकल्प से रहित अवस्था को प्राप्त करना है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि क्रम से अभ्यास बढ़ाते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् विक्षिप्त से यातायात चित्त का, यातायात से श्लिष्ट का और श्लिष्ट से सुलीन चित्त का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अभ्यास करने से निरालम्बन ध्यान होने लगता है। निरालम्बन ध्यान से समत्व प्राप्त करके परमानन्द का अनुभव करना चाहिए। योगी को चाहिए कि वह बहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा के साथ सामीप्य स्थापित करे और परमात्ममय बनने के लिए निरन्तर परमात्मा का ध्यान करे।[१]

इस प्रकार चित्त-वृत्तियों या वासनाओं का विलयन ही समालोच्च ध्यानपरम्पराओं का प्रमुख लक्ष्य रहा है क्योंकि वासनाओं द्वारा ही मन-क्षोभित होता है, जिससे चेतना के समत्व का भंग होता है। ध्यान इसी समत्व या समाधि को प्राप्त करने की साधना है।

ध्यान का सामान्य अर्थ -

ध्यान शब्द का सामान्य अर्थ चेतना का किसी एक विषय या बिन्दु पर केन्द्रित होना है।[२] चेतना जिस विषय पर केन्द्रित होती है वह प्रशस्त या अप्रशस्त दोनों ही हो सकता है। इसी आधार पर ध्यान के दो रूप निर्धारित हुए-१) प्रशस्त और २) अप्रशस्त। उसमें भी अप्रशस्त ध्यान के पुनः दो रूप माने गये-१) आर्त और २) रौद्र। प्रशस्त ध्यान के भी दो रूप माने गये-१) धर्म और २) शुक्ल। जब चेतना राग या आसक्ति में डूब कर किसी वस्तु और उसकी उपलब्धि की आशा पर केन्द्रित होती है तो उसे आर्त ध्यान कहा जा सकता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा या प्राप्तवस्तु के वियोग की संभावना की चिन्ता में चित्त का डूबना आर्त ध्यान है।[३] आर्तध्यान चित्त के अवसाद/विषाद की अवस्था है।

जब कोई उपलब्ध अनुकूल विषयों के वियोग का या अप्राप्त अनुकूल विषयों की उपलब्धि में अवरोध का निमित्त बनता है तो उस पर आक्रोश का जो स्थायीभाव होता है, वही रौद्रध्यान है।[४] इस प्रकार आर्त ध्यान रागमूलक होता है और रौद्र ध्यान द्वेष मूलक होता है। राग-द्वेष के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण ये दोनों ध्यान संसार के जनक हैं, अतः अप्रशस्त माने गये हैं। इनके विपरीत धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान प्रशस्त माने गये हैं। मेरी दृष्टि में स्व-पर के लिये कल्याणकारी विषयों पर चित्तवृत्ति का स्थिर होना धर्मध्यान है। यह लोकमंगल और आत्म विशुद्धि का साधक होता है। चूंकि धर्मध्यान में भोक्ताभाव होता है, अतः यह शुभ आस्रव का कारण होता है। जब आत्मा या चित्त की वृत्तियाँ साक्षीभाव या ज्ञाता द्रष्टा भाव में अवस्थित होती है, तब साधक न तो कर्ताभाव से जुडता है और न भोक्ताभाव से जुड़ता है, यही साक्षीभाव की अवस्था ही शुक्ल ध्यान है। इसमें चित्त शुभ-अशुभ दोनों से ऊपर उठ जाता है।

---

१) योगशास्त्र, १२/५-६

२) तत्वार्थसूत्र ९।२७, ३) वही ९।३१, ४) वही ९।३६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान शब्द की जैन परिभाषाएँ

सामान्यतया अध्यवसायों (चित्तवृत्ति) का स्थिर होना ही ध्यान कहा गया है। दूसरे शब्दों में मन की एकाग्रता को प्राप्त होना ही ध्यान है।

इसके विपरीत जो मन चंचल है उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है।[१] इस प्रकार ध्यान वह स्थिति है जिसमें चित्त वृत्ति की चंचलता समाप्त हो जाती है और वह किसी एक विषय पर केन्द्रित हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अनेक अर्थों का आलम्बन देनेवाली चिन्ता का निरोध ध्यान है।[२] दूसरे शब्दों में जब चिन्तन को अन्यान्य विषयों से हटा कर किसी एक ही वस्तु में केन्द्रित कर दिया जाता है तो वह ध्यान बन जाता है। यद्यपि भगवती आराधना में एक ओर चिन्ता निरोध से उत्पन्न एकाग्रता को ध्यान कहा गया है किन्तु दूसरी ओर उसमें राग-द्वेष और मिथ्यात्व से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करनेवाला जो विषयान्तर के संचार से रहित ज्ञान होता है, उसे ध्यान कहा गया है।[३] आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय में ध्यान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के संसर्ग से रहित चेतना की जो अवस्था है वही ध्यान है।[४] इस गाथा में पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री ने "दंसणणाण समग्गं" का अर्थ सम्यक्-दर्शन व सम्यक् ज्ञान से परिपूर्ण किया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह अर्थ उचित नहीं है। दर्शन और ज्ञान की समग्रता (समग्गं) का अर्थ है ज्ञान का भी निर्विकल्प अवस्था में होना। सामान्यतया ज्ञान विकल्पात्मक होता है और दर्शन निर्विकल्प। किन्तु जब ज्ञान चित्त की विकल्पता से रहित होकर दर्शन से अभिन्न हो जाता है, तो वहीं ध्यान हो जाता है। इसीलिए अन्यत्र कहा भी है कि ज्ञान से ही ध्यान की सिद्धि होती है।[५] ध्यान शब्द की इन परिभाषाओं में हमें स्पष्ट रूप से एक विकासक्रम परिलक्षित होता है। फिर भी मूल रूप में ये परिभाषाएं एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं। चित्त का विविध विकल्पों से रहित होकर एक विकल्प पर स्थिर हो जाना और अन्त में निर्विकल्प हो जाना ही ध्यान है। क्योंकि ध्यान की अन्तिम अवस्था में सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान का क्षेत्र

ध्यान के साधन दो प्रकार के माने गये हैं-एक बहिरंग और दूसरा अन्तरंग। ध्यान के बहिरंग साधनों में ध्यान के योग्य स्थान (क्षेत्र), आसन, काल आदि का विचार किया

---

१) ध्यानस्तव (जिनभद्र, प्र. वीर सेवा मंदिर) २

२) तत्त्वार्थसूत्र ९।२७

३) भगवती आराधना, विजयोदया टीका - देखें ध्यान शतक प्रस्तावना पृ. २६

४) पंचास्तिकाय १५२

५) णाणेण झाणसिद्धि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है और अन्तरंग साधनों में ध्येय विषय और ध्याता के सम्बन्ध में विचार किया गया है कि ध्यान के योग्य क्षेत्र कौन से हो सकते हैं। आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि 'जो स्थान निकृष्ट स्वभाववाले लोगों से सेवित हो, दुष्ट राजा से शासित हो, पाखण्डियों के समूह से व्याप्त हो, जुआरियों, मद्यपियों और व्यभिचारियों से युक्त हो और जहां का वातावरण अशान्त हो, जहां सेना का संचार हो रहा हो, गीत, वादित्र आदि के स्वर गूंज रहे हों, जहां जन्तुओं तथा नपुंसक आदि निकृष्ट प्रकृति के जनों का विचरण हो, वह स्थान ध्यान के योग्य नहीं है। इसी प्रकार कांटे, पत्थर, कीचड़, हड्डी, रुधिर आदि से दूषित तथा कौए, उल्लू, शृगाल, कुत्तों आदि से सेवित स्थान भी ध्यान के योग्य नहीं होते।[१]

यह बात स्पष्ट है कि परिवेश का प्रभाव हमारी चित्तवृत्तियों पर पडता है। धर्म स्थलों एवं नीरव साधना-क्षेत्रों आदि में जो निराकुलता होती है तथा उनमें जो एक विशिष्ट प्रकार की शान्ति होती है, वह ध्यान-साधना के लिए उपयुक्त होती है। अतः ध्यान करते समय साधक को क्षेत्र का विचार करना आवश्यक है। संयमी साधक को समुद्र तट, नदी-तट, अथवा सरोवर के तट, पर्वत शिखर अथवा गुफा किंवा प्राकृतिक दृष्टि से नीरव और सुन्दर प्रदेशों को अथवा जिनालय आदि धर्म स्थानों को ही ध्यान के क्षेत्र रूप में चुनना चाहिए। ध्यान की दिशा के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा गया है कि ध्यान के लिए पूर्व या उत्तर दिशा अभिमुख होकर बैठना चाहिये।

ध्यान के आसन -

ध्यान के आसनों को लेकर भी जैन ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से विचार हुआ है। सामान्य रूप से पद्मासन, पर्यंकासन एवं खड्गासन ध्यान के उत्तम आसन माने गये हैं। ध्यान के आसनों के संबंध में जैन आचार्यों की मूलदृष्टि यह है कि जिन आसनों से शरीर और मन पर तनाव नहीं पडता हो ऐसे सुखासन ही ध्यान के योग्य आसन माने जा सकते हैं। जिन आसनों का अभ्यास साधक ने कर रखा हो और जिन आसनों में वह अधिक समय तक सुखपूर्वक बैठ सकता हो तथा जिनके कारण उसका शरीर स्वेद को प्राप्त नहीं होता हो, वे ही आसन ध्यान के लिये श्रेष्ठ आसन हैं।[२] सामान्यतया जैन परम्परा में पद्मासन और खड्गासन ही ध्यान के अधिक प्रचलित आसन रहे हैं।[३] किन्तु महावीर के द्वारा गोदुहासन में ध्यान करके केवलज्ञान प्राप्त करने के भी उल्लेख हैं।[४] समाधिमरण या शारीरिक अशक्ति की स्थिति में लेटे लेटे भी ध्यान किया जा सकता है।

---

१) ज्ञानार्णव २७/२३-३२

२) ज्ञानार्णव २८।११

३) ज्ञानार्णव २८।१०

४) 'गोदोहियाए उक्कुडयनिलिज्जाए' कल्पसूत्र १२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान का काल-

सामान्यतया सभी कालों में शुभ भाव संभव होने से ध्यान साधना का कोई विशिष्ट काल नहीं कहा गया है। किन्तु जहां तक मुनि समाचारी का प्रश्न है, उत्तराध्ययन में सामान्य रूप से मध्याह्न और मध्यरात्रि को ध्यान के लिए उपयुक्त समय बताया गया है।[१] उपासकदशांग में सकडाल पुत्र के द्वारा मध्याह्न में ध्यान करने का निर्देश है।[२] कहीं कहीं प्रातःकाल और सन्ध्याकाल में भी ध्यान करने का विधान मिलता है।

ध्यान की समयावधि

जैन आचार्यों ने इस प्रश्न पर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है कि किसी व्यक्ति की चित्त वृत्ति अधिकतम कितने समय तक एक विषय पर स्थिर रह सकती है। इस संबंध में उनका निष्कर्ष यह है कि किसी एक विषय पर अखण्डित रूप से चित्त वृत्ति अन्तर्मुहूर्त से अधिक स्थिर नहीं रह सकती। अन्तर्मुहूर्त से उनका तात्पर्य एक क्षण से कुछ अधिक तथा ४८ मिनट से कुछ कम है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक नहीं किया जा सकता है। यह सत्य है कि इतने काल के पश्चात् ध्यान खण्डित होता है, किन्तु चित्तवृत्ति को पुनः नियोजित करके ध्यान को एक प्रहर या रात्रिपर्यंत भी किया जा सकता है।

ध्यान और शरीर रचना-

जैन आचार्यों ने ध्यान का संबंध शरीर से भी जोड़ा है। यह अनुभूत तथ्य है कि सबल, स्वस्थ और सुगठित शरीर ही ध्यान के लिए अधिक योग्य होता है। यदि शरीर निर्बल है, सुगठित नहीं है तो शारीरिक गतविधियों को अधिक समय तक नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है और यदि शारीरिक गतिविधियां नियंत्रित नहीं रहेंगी तो चित्त भी नियन्त्रित नहीं रहेगा। शरीर और चित्तवृत्तियों में एक गहरा संबंध है। शारीरिक विकलताएं चित्त को विकल बना देती हैं और चैत्तसिक विकलताएं शरीर को। अतः यह माना गया है कि ध्यान के लिए सबल निरोग और सुगठित शरीर आवश्यक है। तत्त्वार्थसूत्र में तो ध्यान की परिभाषा देते हुए स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि उत्तम संहनन वाले का एक विषय में अंतकरण की वृत्ति का नियोजन ध्यान है।[३] जैन आचार्य यह मानते हैं कि छः प्रकार की शारीरिक संरचना में से वज्रर्षभनाराच, अर्धवज्रर्षभनाराच, नाराच और अर्धनाराच ये चार शारीरिक संरचनाएँ ही (संहनन) ध्यान के योग्य होती हैं।[४] यद्यपि हमें यहां स्मरण रखना चाहिए कि शारीरिक संरचना का सहसंबंध मुख्य रूप से प्रशस्त ध्यानों से ही है, अप्रशस्त

---

१) उत्तराध्यन सूत्र २६।१२

२) उपासकदशांग ८।१८२

३) उत्तमसंहननस्यैकाग्रचित्त निरोधो ध्यानम्। तत्त्वार्थसूत्र-९।२६

४) तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य, उमास्वाति ९।२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यानों से नहीं है। यह सत्य है कि शरीर चित्तवृत्ति की स्थिरता का मुख्य कारण होता है। अतः ध्यान की वे स्थितियां जिनका विषय प्रशस्त होता है और जिनके लिए चित्तवृत्ति की अधिक समय तक स्थिरता आवश्यक होती है वे केवल सबल शरीर में ही सम्भव होती हैं। किन्तु अप्रशस्त आर्त, रौद्र आदि ध्यान तो निर्बल शरीरवालों को ही अधिक होते हैं। अशक्त या दुर्बल व्यक्ति ही अधिक चिन्तित एवं चिड़चिड़ा होता है।

ध्यान किसका?

ध्यान के सन्दर्भ में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि ध्यान किसका किया जाये? दूसरे शब्दों में ध्येय या ध्यान का आलम्बन क्या है? सामान्य दृष्टि से विचार करने पर तो किसी भी वस्तु या विषय को ध्येय/ध्यान के आलम्बन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि सभी वस्तुओं या विषयों में कम-अधिक रूप में ध्यानाकर्षण की क्षमता तो होती ही है। चाहे संसार के सभी विषय ध्यान के आलम्बन होने की पात्रता रखते हों, किन्तु उन सभी को ध्यान का आलम्बन नहीं बनाया जा सकता है। व्यक्ति के प्रयोजन के आधार पर ही उनमें से कोई एक विषय ही ध्यान का आलम्बन बनता है। अतः ध्यान के आलम्बन का निर्धारण करते समय यह विचार करना आवश्यक होता है कि ध्यान का उद्देश्य या प्रयोजन क्या है? दूसरे शब्दों में ध्यान हम किसलिए करना चाहते हैं? इसका निर्धारण सर्वप्रथम आवश्यक होता है। वैसे तो संसार के सभी विषय चित्त को केन्द्रित करने का सामर्थ्य रखते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बिना किसी पूर्व विचार के उन्हें ध्यान का आलम्बन अथवा ध्येय बनाया जाये। किसी स्त्री का सुन्दर शरीर ध्यानाकर्षण या ध्यान का आलम्बन होने की योग्यता तो रखता है किन्तु जो साधक ध्यान के माध्यम से विक्षोभ या तनावमुक्त होना चाहता है, उसके लिए यह उचित नहीं होगा कि वह स्त्री के सुन्दर शरीर को अपने ध्यान का विषय बनाये। क्योंकि उसे ध्यान का विषय बनाने से उसके मन में उसके प्रति रागात्मकता उत्पन्न होगी, वासना जगेगी और पाने की आकांक्षा या भोग की आकांक्षा से चित्त में विक्षोभ पैदा होगा। अतः किसी भी वस्तु को ध्यान का आलम्बन बनाने के पूर्व यह विचार करना आवश्यक होता है कि हमारे ध्यान का प्रयोजन या उद्देश्य क्या है? जो व्यक्ति अपनी वासनाओं का पोषण चाहता है, वही स्त्री-शरीर के सौन्दर्य को अपने ध्यान का आलम्बन बनाता है और उसके माध्यम से आर्तध्यान का भागीदार बनता है। किन्तु जो भोग के स्थान पर त्याग और वैराग्य को अपने जीवन का लक्ष्य बनाना चाहता है, जो समाधि का इच्छुक है, उसके लिए स्त्री-शरीर की बीभत्सता और विद्रूपता ही ध्यान का आलम्बन होगी। अतः ध्यान के प्रयोजन के आधार पर ही ध्येय का निर्धारण करना होता है। पुनः ध्यान की प्रशस्तता और अप्रशस्तता भी उसके ध्येय या आलम्बन पर आधारित होती है, अतः प्रशस्त ध्यान के साधक अप्रशस्त विषयों को अपने ध्यान का आलम्बन या ध्येय नहीं बनाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दार्शनिकों की दृष्टि में प्राथमिक स्तर पर ध्यान के लिए किसी ध्येय या आलम्बन का होना आवश्यक है, क्योंकि बिना आलम्बन ही चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित करना सम्भव नहीं होता है। वे सभी विषय और वस्तुएँ जिनमें व्यक्ति का मन रम जाता है, ध्यान का आलम्बन बनने की योग्यता तो रखती हैं, किन्तु उनमें से किसी एक को अपने ध्यान का आलम्बन बनाते समय व्यक्ति को यह विचार करना होता है कि उससे वह राग की ओर जायेगा या विराग की ओर, उसके चित्त में वासना और विक्षोभ जगेंगे या समाधि सधेगी। यदि साधक का उद्देश्य ध्यान के माध्यम से चित्त-विक्षोभों को दूर करके समाधि-लाभ या समता-भाव को प्राप्त करना है,तो उसे प्रशस्त विषयों को ही अपने ध्यान का आलम्बन बनाना होगा। प्रशस्त आलम्बन ही व्यक्ति को प्रशस्त ध्यान की दिशा की ओर ले जाता है।

ध्यान के आलम्बन के प्रशस्त विषयों में परमात्मा या ईश्वर का स्थान सर्वोपरि माना गया है। जैन दार्शनिकों ने भी ध्यान के आलम्बन के रूप में वीतराग परमात्मा को ध्येय के रूप में स्वीकार किया है।[१] चाहे ध्यान पदस्थ हो या पिण्डस्थ, रूपस्थ हो या रूपातीत; ध्येय तो परमात्मा ही है। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनधर्म में आत्मा और परमात्मा भिन्न नहीं हैं। आत्मा की शुद्धदशा ही परमात्मा है।[२] इसलिए जैन दर्शन में ध्याता और ध्येय अभिन्न हैं। साधक आत्मा ध्यानसाधना में अपने ही शुद्ध स्वरूप को ध्येय बनाता है। आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है।[३] जिस परमात्म-स्वरूप को ध्याता ध्येय के रूप में स्वीकार करता है वह उसका अपना ही शुद्ध स्वरूप है।[४] पुनः ध्यान में जो ध्येय बनता है वह वस्तु नहीं, चित्त की वृत्ति होती है। ध्यान में चित्त ही ध्येय का आकार ग्रहण करके हमारे सामने उपस्थित होता है। अतः ध्याता भी चित्त है और ध्येय भी चित्त है। जिसे हम ध्येय कहते हैं, वह हमारा अपना ही निज रूप है, हमारा अपना ही प्रोजेक्शन (Projection) है। ध्यान वह कला है जिसमें ध्याता अपने को ही ध्येय बनाकर स्वयं उसका साक्षी बनता है। हमारी वृत्तियाँ ही हमारे ध्यान का आलम्बन होती हैं और उनके माध्यम से हम अपना ही दर्शन करते हैं।

ध्यान के अधिकारी-

ध्यान को व्यापक अर्थों में ग्रहण करने पर सभी व्यक्ति ध्यान के अधिकारी माने जा सकते हैं, क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार आर्त और रौद्र ध्यान तो निम्नतम प्राणियों में भी

---

१) ज्ञानार्णव - ३२।९५, ३९।१-८, मोक्खपाहुड ७

२) अप्पा सो परमप्पा

३) तत्वानुशासन ७४

४) मोक्खपाहुड ५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में ध्यान में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों का समावेश होता है। अतः हमें यह मानना होता है कि इन अप्रशस्त ध्यानों की पात्रता तो आध्यात्मिक दृष्टि से अपूर्ण रूप से विकसित सभी प्राणियों में किसी न किसी रूप में रही हुई है। नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि सभी में आर्तध्यान और रौद्रध्यान पाये जाते हैं। किन्तु जब हम ध्यान का तात्पर्य केवल प्रशस्त ध्यान अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान से लेते हैं तो हमें यह मानना होगा कि इन ध्यानों के अधिकारी सभी प्राणी नहीं हैं। उमास्वाती ने तत्त्वार्थसूत्र में किस ध्यान का कौन अधिकारी है इसका उल्लेख किया है।[१] इसकी विशेष चर्चा हमने ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में की है। साधारणतया चतुर्थ गुणस्थान अर्थात सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् ही व्यक्ति धर्मध्यान का अधिकारी बनता है। धर्मध्यान की पात्रता केवल सम्यक् दृष्टि जीवों को ही है। आर्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करके अपने को प्रशस्त चिन्तन से जोड़ने की सम्भावना केवल उसी व्यक्ति में हो सकती है, जिसका विवेक जागृत हो और जो हेय, ज्ञेय और उपादेय के भेद को समझता हो। जिस व्यक्ति में हेय-उपादेय अथवा हितअहित के बोध का ही सामर्थ्य नहीं है, वह धर्मध्यान में अपने चित्त को केन्द्रित नहीं कर सकता।

यह भी स्मरणीय है कि आर्त और रौद्र ध्यान पूर्व संस्कारों के कारण व्यक्ति में सहज होते हैं। उनके लिए व्यक्ति को विशेष प्रयत्न या साधना नहीं करनी होती, जबकि धर्मध्यान के लिए साधना (अभ्यास) आवश्यक है। इसीलिए धर्मध्यान केवल सम्यक्दृष्टि को ही हो सकता है। धर्म-ध्यान की साधना के लिए व्यक्ति में ज्ञान के साथ-साथ वैराग्य/विरति भी आवश्यक मानी गई है और इसलिए कुछ लोगों का यह मानना भी है कि धर्मध्यान पांचवें गुणस्थान अर्थात देशव्रती को ही संभव है। अतः स्पष्ट है कि जहाँ आर्त और रौद्र ध्यान के स्वामी सम्यक्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के जीव हो सकते हैं, वहाँ धर्मध्यान का प्रश्न अधिकारी रूप से सम्यक्दृष्टि श्रावक और विशेषरूप से देशविरत श्रावक या मुनि ही हो सकता है।

जहां तक शुक्लध्यान का प्रश्न है वह सातवें गुणस्थान के अप्रमत्त जीवों से लेकर १४ वें अयोगी केवली गुणस्थान तक के सभी व्यक्तियों में सम्भव है। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर - दिगम्बर के मतभेदों की चर्चा ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में आगे की है।

इस प्रकार ध्यानसाधना के अधिकारी व्यक्ति भिन्न-भिन्न ध्यानों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कहे गये हैं। जो व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से जितना विकसित होता है, वह ध्यान के क्षेत्र में उतना ही आगे बढ़ सकता है। अतः व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास उसकी ध्यानसाधना से जुड़ा हुआ है। आध्यात्मिक साधना और ध्यानसाधना में विकास

---

१) देखें-तत्त्वार्थसूत्र ९।३१-४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का क्रम अन्योन्याश्रित हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति प्रशस्त ध्यानों की दिशा में अग्रसर होता है उसका आध्यात्मिक विकास होता है और जैसे-जैसे उसका आध्यात्मिक विकास होता है, वह प्रशस्त ध्यानों की और अग्रसर होता है।

ध्यान का साधक गृहस्थ या श्रमण ?

ध्यान की क्षमता त्यागी और भोगी दोनों में समान रूप से होती है, किन्तु अक्सर भोगी जिस विषय पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है वह विषय अन्त में उसके मन को प्रमथित करके उद्वेलित ही बनाता है। अतः उसके ध्यान में यद्यपि कुछ काल तक चित्त तो स्थिर रहता है, किन्तु उसका फल चित्तवृत्तियों की स्थिरता न होकर अस्थिरता ही होती है। जिस ध्यान के अन्त में चित्त उद्वेलित होता हो वह ध्यान साधनात्मक ध्यान की कोटि में नहीं आता है। यही कारण है कि परवर्ती जैन दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में आर्तध्यान और रौद्र ध्यान को ध्यान के रूप में परिगणित ही नहीं किया, क्योंकि वे अन्ततोगत्वा चित्त की उद्विग्नता के ही कारण बनते हैं। यही कारण था कि दिगम्बर परम्परा ने यह मान लिया कि गृहस्थ का जीवन वासनाओं, आकांक्षाओं और उद्विग्नताओं से परिपूर्ण है अतः वे ध्यान साधना करने में असमर्थ हैं।

ज्ञानार्णव में इस मत का प्रतिपादन हुआ है कि गृहस्थ ध्यान का अधिकारी नहीं है।[१] इस संबंध में उसका कथन है कि गृहस्थ प्रमाद को जीतने में समर्थ नहीं होता, इसलिए वह अपने चंचल मन को वश में नहीं रख पाता। फलतः वह ध्यान का अधिकारी नहीं हो सकता। ज्ञानार्णव कार का कथन है कि गृहस्थ का मन सैंकड़ों झंझटों से व्यथित तथा दुष्ट तृष्णा रूप पिशाच से पीड़ित रहता है इसलिए उसमें रहकर व्यक्ति ध्यान आदि की साधना नहीं कर सकता है। जब प्रलयकालीन तीक्ष्ण वायु के द्वारा स्थिर स्वभाववाले बड़े-बड़े पर्वत भी स्थान भ्रष्ट कर दिये जाते हैं तो फिर स्त्री-पुत्र आदि के बीच रहनेवाले गृहस्थ को जो स्वभाव से ही चंचल हैं क्यों नहीं भ्रष्ट किया जा सकता हैं।[२] इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए ज्ञानार्णवकार तो यहां तक कहता है कि कदाचित आकाश कुसुम और गधे के सींग (शृंग) संभव भी हों, लेकिन गृहस्थ जीवन में किसी भी देश और काल में ध्यान संभव नहीं होता।[३] इसके साथ ही ज्ञानार्णवकार मिथ्या दृष्टियों, अस्थिर अभिप्राय वालों तथा कपटपूर्ण जीवन जीने वालों में भी ध्यान की संभावना को स्वीकार नहीं करता है।[४]

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या गृहस्थ जीवन में ध्यान संभव ही नहीं है।

---

१) ज्ञानार्णव ४।१०-१५
२) वही - ४।१६
३) वही - ४।१७
४) वही ४।१८-१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सही है कि गृहस्थ जीवन में अनेक द्वन्द्व होते हैं और गृहस्थ आर्त और रौद्र ध्यान से अधिकांश समय तक जुड़ा रहता है। किन्तु एकान्त रूप से गृहस्थ में धर्मध्यान की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्यथा गृहस्थ लिंग की अवधारणा खण्डित हो जायेगी। अतः गृहस्थ में भी धर्म ध्यान की संभावना है।

यह सत्य है कि जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन के प्रपंचों में उलझा हुआ है, उसके लिए ध्यान संभव नहीं है। किन्तु गृहस्थ जीवन और गृही वेश में रहनेवाले सभी व्यक्ति आसक्त ही होते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। अनेक सम्यक्दृष्टि गृहस्थ ऐसे होते हैं जो जल में कमलवत् गृहस्थ जीवन में अलिप्त भाव से रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए धर्मध्यान की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वयं ज्ञानार्णवकार यह स्वीकार करता है कि जो साधु मात्र वेश में अनुराग रखता हुआ अपने को महान समझता है और दूसरों को हीन समझता है वह साधु भी ध्यान के योग्य नहीं है।[१] अतः व्यक्ति में मुनिवेशधारण करने से ध्यान की पात्रता नहीं आती है। प्रश्न यह नहीं कि ध्यान गृहस्थ को संभव होगा या साधु को? वस्तुतः निर्लिप्त जीवन जीने वाला व्यक्ति चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, उसके लिए धर्मध्यान संभव हो सकता है। दूसरी ओर आसक्त, दंभी और साकांक्ष व्यक्ति, चाहे वह मुनि ही क्यों न हो, उसके लिए धर्मध्यान असंभव होता है। ध्यान की संभावना साधु और गृहस्थ होने पर निर्भर नहीं करती। उसकी संभावना का आधार ही व्यक्ति के चित्त की निराकुलता या अनासक्ति है। जो चित्त अनासक्त और निराकुल है, फिर वह चित्त गृहस्थ का हो या मुनि का, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। ध्यान के अधिकारी बनने के लिए आवश्यक यह है कि व्यक्ति का मानस निराकांक्ष, अनाकुल और अनुद्विग्न रहे। यह अनुभूत सत्य है कि कोई-कोई व्यक्ति गृहस्थ जीवन में रहकर भी निराकांक्ष, अनाकुल और अनुद्विग्न बना रहता है। दूसरी ओर कुछ साधु, साधु होकर भी सदैव आसक्त, आकुल और उद्विग्न रहते हैं। अतः ध्यान का संबंध गृही जीवन या मुनि जीवन से न होकर चित्त की विशुद्धि से है। चित्त जितना विशुद्ध होगा ध्यान उतना ही स्थिर होगा। पुनः जो श्वेताम्बर और यापनीय परम्परायें गृहस्थ में भी १४ गुणस्थान सम्भव मानती हैं, उनके अनुसार तो आध्यात्मिक विकास के अग्रिम श्रेणियों का आरोहण करता हुआ गृहस्थ भी न केवल धर्म ध्यान का अपितु शुक्ल ध्यान का भी अधिकारी होता है।

ध्यान के प्रकार -

सामान्यतया जैनाचार्यों ने ध्यान का अर्थ चित्तवृत्ति का किसी एक विषय पर केन्द्रित होना ही माना है। अतः जब उन्होंने ध्यान के प्रकारों की चर्चा की तो उसमें प्रशस्त और

---

१) ज्ञानार्णव - ४।३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों को ग्रहीत कर लिया। उन्होंने आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार प्रकार माने।[१] ध्यान के इन चार प्रकारों में प्रथम दो को अर्थात संसार का हेतु और अन्तिम दो को प्रशस्त अर्थात मोक्ष का हेतु कहा गया है।[२] इसका आधार यह माना गया है कि आर्त और रौद्र ध्यान राग-द्वेष जनित होने से बन्धन के कारण हैं। इसलिए वे अप्रशस्त हैं। जबकि धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान कषाय भाव से रहित होने से मुक्ति के कारण हैं, इसलिए वे प्रशस्त हैं। ध्यानशतक की टीका में तथा अमितगति के श्रावकाचार में इन चार ध्यानों को क्रमशः तिर्यंचगति, नरकगति, देवगति और मुक्ति का कारण कहा गया है। यद्यपि प्राचीन जैन आगमों में ध्यान का यह चतुर्विध वर्गीकरण ही मान्य रहा है। किन्तु जब ध्यान का सम्बन्ध मुक्ति की साधना से जोड़ा गया तो आर्त और रौद्र ध्यान को बन्धन का कारण होने से ध्यान की कोटि में ही परिगणित नहीं किया गया। अतः दिगम्बर परम्परा की धवला टीका[३] में तथा श्वेताम्बर परम्परा के हेमचन्द्र के योगशास्त्र[४] में ध्यान के दो ही प्रकार माने गए-धर्म और शुक्ल। ध्यान में भेद-प्रभेदों की चर्चा से स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि उसमें क्रमशः विकास होता गया है। प्राचीन आगमों यथा-स्थानांग, समवायांग, भगवतीसूत्र में तथा झाणज्झयण (ध्यानशतक) और तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान के चार विभागों की चर्चा करके क्रमशः उनके चार-चार विभाग किये गए हैं किन्तु उनमें कहीं भी ध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार प्रकार की चर्चा नहीं है। जबकि परवर्ती साहित्य में इनकी विस्तृत चर्चा मिलती है। सर्वप्रथम इनका उल्लेख योगीन्दु के योगसार और देवसेन के भावसंग्रह में मिलता है।[५] मुनि पद्मसिंह ने ज्ञानसार में अर्हन्त के सन्दर्भ में धर्म ध्यान के अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ की चर्चा की है किन्तु उन्होंने रूपातीत का कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया है।[६] इस विवेचना में एक समस्या यह भी है कि पिण्डस्थ ओर रूपस्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाया गया है। परवर्ती साहित्य में आचार्य नेमिचन्द्र के द्रव्य संग्रह में ध्यान के चार भेदों की चर्चा के पश्चात् धर्म ध्यान के अन्तर्गत पदों के जाप और पंच परमेष्ठी के स्वरूप का भी निर्देश किया गया है।[५] इसके टीकाकार ब्रह्मदेव ने यह भी बताया है कि जो ध्यान मन्त्र वाक्यों के आश्रित होता है वह पदस्थ है, जिस ध्यान में स्वआत्मा का चिन्तन होता है वह पिंडस्थ है, जिसमें चेतना स्वरूप या विद्रूपता का विचार किया जाता है वह रूपस्थ है

---

१) तत्त्वार्थसूत्र ९।२९
२) वही ९।३०, ध्यान शतक ५
३) धवला पुस्तक १३ पृ. ७०
४) योगशास्त्र ४।११५
५) योगसार, ९८
६) ज्ञानसार १८-२८
५) द्रव्यसंग्रह (नेमीचन्द्र) ४८-५४ टीका ब्रह्मदेव गाथा ४८ की टीका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा निरंजन व निराकार का ध्यान ही रूपातीत है।[1] अमितगति[2] ने अपने श्रावकाचार में ध्येय या ध्यान के आलम्बन की चर्चा करते हुए पिण्डस्थ आदि इन चार प्रकार के ध्यानों की विस्तार से लगभग २७ श्लोकों में चर्चा की है। यहां पिण्डस्थ से पहले पदस्थ ध्यान को स्थान दिया गया है और उसकी विस्तृत चर्चा भी की गई है। शुभचन्द्र[3] ने ज्ञानार्णव में पदस्थ आदि ध्यान के इन प्रकारों की पूरे विस्तार के साथ लगभग २७ श्लोकों में चर्चा की है। परवर्ती आचार्यों में वसुनन्दि, हेमचन्द्र, भास्करनन्दि आदि ने भी इनकी विस्तार से चर्चा की है। पुनः पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति, वारुणी और तत्त्वभू ऐसी पिण्डस्थ ध्यान की जो पांच धारणाएं कही गई हैं उनका भी प्राचीन ग्रन्थों में कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र और उसकी प्राचीन टीकाओं में लगभग ६ठीं ७ वीं शती तक इनका अभाव है। इससे यही सिद्ध होता है कि ध्यान के प्रकारों, उपप्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों आदि की जो चर्चा जैन परम्परा में हुई है, वह क्रमशः विकसित होती रही है और उन पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव भी है।

प्राचीन आगमिक साहित्य में स्थानांग में ध्यान के प्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं का जो विवरण मिलता है वह इस प्रकार है :-

१) **आर्तध्यान**- आर्तध्यान हताशा की स्थिति है। स्थानांग के अनुसार इस ध्यान के चार उपप्रकार हैं।[4] अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग की सतत चिन्ता करना यह प्रथम प्रकार का आर्त ध्यान है। दुःख के आने पर उसे दूर करने की चिन्ता करना यह आर्त ध्यान का दूसरा रूप है। प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी पुनः प्राप्ति के लिए चिन्तन करना तीसरे प्रकार का आर्त ध्यान है और जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति के लिए इच्छा करना चौथे प्रकार का आर्त ध्यान है। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार यह आर्तध्यान, अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत में होता है। इसके साथ ही मिथ्या दृष्टियों में भी इस ध्यान का सद्भाव होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से मिथ्या दृष्टि, अविरत सम्यक्दृष्टि तथा देशविरत सम्यक्दृष्टि में आर्तध्यान के उपरोक्त चारों ही प्रकार पाये जाते हैं; किन्तु प्रमत्त संयत में निदान को छोड़कर अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति की आकांक्षा को छोड़कर अन्य तीन ही विकल्प होते हैं। स्थानांगसूत्र में इसके निम्न चार लक्षणों का उल्लेख हुआ है।[5]

१) क्रन्दनता - उच्च स्वर से रोना।
२) शोचनता - दीनता प्रकट करते हुए शोक करना।

---

१) पदस्थ मंत्रवाक्यस्थ - वही गाथा ४८ की टीका
२) श्रावकाचार (अमितगति) परिच्छेद १५
३) ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) सर्ग ३२-४०
४) स्थानांगसूत्र ४।६०-७२
५) स्थानांगसूत्र ४।६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३) तेपनता - आंसू बहाना।

४) परिदेवनता - करुणा-जनक विलाप करना।

रौद्र ध्यान -

रौद्रध्यान आवेगात्मक अवस्था है। रौद्रध्यान के भी चार भेद किये गये हैं[१]

१) हिंसानुबंधी - निरन्तर हिंसक प्रवृत्ति में तन्मयता करानेवाली चित्त की एकाग्रता।

२) मृषानुबंधी - असत्य भाषण करने सम्बन्धी चित्त की एकाग्रता।

३) स्तेनानुबन्धी - निरन्तर चोरी करने कराने की प्रवृत्ति सम्बन्धी चित्त की एकाग्रता।

४) संरक्षणानुबन्धी - परिग्रह के अर्जन और संरक्षण सम्बन्धी तन्मयता।

कुछ आचार्यों ने विषयसंरक्षण का अर्थ बलात् ऐन्द्रिक भोगों का संकल्प किया है, जब कि कुछ आचार्यों ने ऐन्द्रिक विषयों के संरक्षण में उपस्थित क्रूरता के भाव को ही विषयसंरक्षण कहा है। स्थानांग में इसके भी निम्न चार लक्षणों का निर्देश है।[२]

१) उत्सन्नदोष - हिंसादि किसी एक पाप में निरन्तर प्रवृत्ति करना।

२) बहुदोष - हिंसादि सभी पापों के करने में संलग्न रहना।

३) अज्ञानदोष - कुसंस्कारों के कारण हिंसादि अधार्मिक कार्यों को धर्म मानना।

४) आमरणान्त दोष - मरणकाल तक भी हिंसादि क्रूर कर्मों को करने का अनुताप न होना।

धर्मध्यान -

जैन आचार्यों ने साधना की दृष्टि से केवल धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ही ध्यान की कोटि में रखा है। यही कारण है कि आगमों में इनके भेद और लक्षणों की चर्चा के साथ-साथ इनके आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं का भी उल्लेख मिलता है। स्थानांगसूत्र आदि में धर्मध्यान के निम्न चार भेद बताये गये हैं।[३]

१) आज्ञाविचय - वीतराग सर्वज्ञ - प्रभु के आदेश और उपदेश के सम्बन्ध में आगमों के अनुसार चिन्तन करना।

२) अपायविचय - दोषों और उनके कारणों का चिन्तन कर उनसे छुटकारा कैसे हो, इस सम्बन्ध में विचार करना। दूसरे शब्दों में हेय क्या है? इसका चिन्तन करना।

---

१) स्थानांग सूत्र ४।६३

२) वही ४।६४

३) वही ४।६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३) विपाक विचय - पूर्वकर्मों के विपाक के परिणामस्वरूप उदय में आनेवाली सुखदुःखात्मक विभिन्न अनुभूतियों का समभावपूर्वक वेदन करते हुए उनके कारणों का विश्लेषण करना। दूसरे कुछ आचार्यों के अनुसार हेय के परिणामों का चिन्तन करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है।

विपाकविचय धर्मध्यान को निम्न उदाहरण से भी समझा जा सकता है -

मान लीजिए कोई व्यक्ति हमें अपशब्द कहता है और उन अपशब्दों को सुनने से पूर्वसंस्कारों के निमित्त से क्रोध का भाव उदित होता है। उस समय उत्पन्न होते हुए क्रोध को साक्षी भाव से देखना और क्रोध की प्रतिक्रिया व्यक्त न करना तथा यह विचार करना कि क्रोध का परिणाम दुःखद होता है अथवा यह सोचना कि मेरे निमित्त से इसको कोई पीड़ा हुई होगी, अतः यह मुझे अपशब्द कह रहा है, यह विपाकविचय धर्मध्यान है। संक्षेप में कर्मविपाकों के उदय पर उनके प्रति साक्षी भाव रखना, प्रतिक्रिया के दुःखद परिणाम का चिन्तन करना एवं प्रतिक्रिया न करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है।

४) संस्थान विचय - लोक के स्वरूप के चिन्तन को सामान्यरूप से संस्थान विचय धर्मध्यान कहा जाता है। किन्तु लोक एवं संस्थान का अर्थ आगमों में शरीर भी है। अतः शारीरिक गतिविधियों पर अपनी चित्तवृत्तियों को केन्द्रित करने को भी संस्थानविचय धर्मध्यान कहा जा सकता है। अपने इस अर्थ में संस्थान विचय धर्मध्यान शरीर-विपश्यना या शरीर-प्रेक्षा के निकट है। आगमों में धर्मध्यान के निम्न चार लक्षण कहे गये हैं।[१]

१) आज्ञारुचि - जिन आज्ञा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना तथा उसके प्रति निष्ठावान रहना।

२) निसर्गरुचि - धर्मकार्यों में स्वाभाविक रूप रुचि होना।

३) सूत्ररुचि - आगम शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन में रुचि होना।

४) अवगाढ़रुचि - आगमिक विषयों के गहन चिन्तन और मनन में रुचि होना। दूसरे शब्दों में आगमिक विषयों का रुचि गम्भीरता से अवगाहन करना।

स्थानांग में धर्मध्यान के आलम्बनों की चर्चा करते हुए, उसमें चार आलम्बन बताये गये हैं[२] - १) वाचना-अर्थात आगमसाहित्य का अध्ययन करना, २) प्रतिपृच्छना-अध्ययन करते समय उत्पन्न शंका के निवारणार्थ जिज्ञासावृत्ति से उस सम्बन्ध में गुरुजनों से पूछना। ३) परिवर्तना - अधीत सूत्रों का पुनरावर्तन करना ४) अनुप्रेक्षा - आगमों के अर्थ का चिन्तन करना। कुछ आचार्यों की दृष्टि में अनुप्रेक्षा का अर्थ संसार की अनित्यता आदि का चिन्तन करना भी है।

---

१) स्थानांग ४।६६

२) वही ४।६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानांगसूत्र के अनुसार धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं कहीं गई हैं[१]- १) एकस्थानुप्रेक्षा, २) अनित्यानुप्रेक्षा, ३) अशरणानुप्रेक्षा और ४) संसारानुप्रेक्षा। ये अनुप्रेक्षाएँ जैन परंपरा में प्रचलित १२ अनुप्रेक्षाओं के ही अन्तर्गत है। जिनभद्र के ध्यानशतक तथा उमास्वाती के तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में चर्चा उपलब्ध होती है। जिनभद्र[२] के अनुसार जिस व्यक्ति में निम्न चार बातें होती हैं वही धर्मध्यान का अधिकारी होता है। १. सम्यक्ज्ञान (ज्ञान), २. दृष्टिकोण की विशुद्धि (दर्शन), ३. सम्यक् आचरण (चारित्र) और ४. वैराग्यभाव। हेमचन्द्र[३]ने योगशास्त्र में इन्हें ही कुछ शब्दान्तर के साथ प्रस्तुत किया है। वे धर्मध्यान के लिए १. आगमज्ञान, २. अनासक्ति, ३. आत्मसंयम और ४. मुमुक्षुभाव को आवश्यक मानते हैं। धर्मध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में तत्त्वार्थ का दृष्टिकोण थोडा भिन्न है। तत्त्वार्थ के श्वेताम्बर पाठ के अनुसार धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत, उपशांतकषाय और क्षीणकषाय में ही सम्भव है। गुणस्थान सिद्धान्त की दृष्टि से यदि हम कहें तो सातवें, ग्यारहवें और बारहवें में ही धर्मध्यान संभव है। यदि इसे निरंतरता में ग्रहण करें तो अप्रमत्त संयत से लेकर क्षीणकषाय तक अर्थात सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक धर्मध्यान की संभावना है। तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर मान्य मूलपाठ में धर्मध्यान के अधिकारी का विवेचना करनेवाला सूत्र है ही नहीं। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाओं में पूज्यपाद अक्लंक और विद्यानन्दि सभी ने धर्मध्यान के स्वामी का उल्लेख किया है किन्तु उनका मंतव्य श्वेताम्बर परम्परा से भिन्न है। उनके अनुसार चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही धर्मध्यान की संभावना है। आठवें गुणस्थान से श्रेणी प्रारंभ होने के कारण धर्मध्यान संभव नहीं है।

इस प्रकार धर्मध्यान के अधिकारी के प्रश्न पर जैन आचार्यों में मतभेद रहे हैं।

शुक्ल ध्यान -

यह धर्म-ध्यान के बाद की स्थिति है। शुक्लध्यान के द्वारा मन को शान्त और निष्प्रकम्प किया जाता है। इसकी अन्तिम परिणति मन की समस्त प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध है। शुक्ल ध्यान चार प्रकार का है[४]- १. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार-इस ध्यान में ध्याता कभी द्रव्य का चिन्तन करते करते पर्याय का चिन्तन करता है और कभी पर्याय का चिन्तन करते करते द्रव्य का चिन्तन करने लगता है। इस ध्यान में कभी द्रव्य पर तो कभी पर्याय पर मनोयोग का संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही रहता है। २. एकत्व-वितर्क

---

१) स्थानांग ४।६८ २)ध्यान शतक ६३ ३) योगशास्त्र ७।२-६
४) स्थानांग ४।६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविचारी-योग संक्रमण से रहित एक पर्याय विषयक ध्यान एकत्व वितर्क अविचार ध्यान कहलाता है। ३. सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती-मन, वचन और शरीर व्यापार का निरोध हो जाने एवं केवल श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया के शेष रहने पर ध्यान की यह अवस्था प्राप्त होती है। ४. समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति-जब मन, वचन और शरीर की समस्त प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है और कोई भी सूक्ष्म क्रिया शेष नहीं रहती उस अवस्था को समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान कहते हैं। इस प्रकार शुक्लध्यान की प्रथम अवस्था से क्रमशः आगे बढ़ते हुए अन्तिम अवस्था में साधक कायिक, वाचिक और मानसिक सभी प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध कर अन्त में सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है, जो कि धर्म-साधना और योगसाधना का अन्तिम लक्ष्य है।

स्थानांगसूत्र में शुक्लध्यान के निम्न चार लक्षण कहे गये हैं[१]-

१) अव्यथ-परीषह, उपसर्ग आदि की व्यथा से पीड़ित होने पर भी क्षोभित नहीं होना।

२) असम्मोह - किसी भी प्रकार से मोहित नहीं होना।

३) विवेक - स्व और पर अथवा आत्म और अनात्म के भेद को समझना। भेदविज्ञान का ज्ञाता होना।

४) व्युत्सर्ग - शरीर, उपधि आदि के प्रति ममत्व भाव का पूर्ण त्याग। दूसरे शब्दों में पूर्ण निर्ममत्व से युक्त होना।

इन चार लक्षणों के आधार पर हम यह बता सकते हैं कि किसी व्यक्ति में शुक्लध्यान संभव होगा या नहीं।

स्थानांग में शुक्लध्यान के चार आलम्बन बताये गये हैं[२]- १. शान्ति (क्षमाभाव), २. मुक्ति (निर्लोभता, ३. आर्जव (सरलता) और ४. मार्दव (मृदुता)। वस्तुतः शुक्लध्यान के ये चार आलम्बन चार कषायों के त्यागरूप ही हैं। शान्ति में क्रोध का त्याग है और मुक्ति में लोभ का त्याग है। आर्जव माया (कपट) के त्याग का सूचक है, तो मार्दव मनन कषाय के त्याग का सूचक है।

इसी ग्रन्थ में शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख भी हुआ है, किन्तु ये चार अनुप्रेक्षाएं सामान्यरूप से प्रचलित १२ अनुप्रेक्षाओं से क्वचित रूप में भिन्न ही प्रतीत होती है। स्थानांग में शुक्लध्यान की निम्न चार अनुप्रेक्षाएं उल्लेखित हैं[३]-

१) अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा - संसार में परिभ्रमण की अनन्तता का विचार करना।

२) विपरिणामानुप्रेक्षा - वस्तुओं के विविध परिणमनों का विचार करना।

---

१) स्थानांग ४।७० २) वही ४।७१ ३) वही ४।७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३) अशुभानुप्रेक्षा - संसार, देह और भोगों की अशुभता का विचार करना।

४) अपायानुप्रेक्षा - राग द्वेष से होनेवाले दोषों का विचार करना।

शुक्लध्यान के चार प्रकारों के सम्बन्ध में बौद्धों का दृष्टिकोण भी जैन परम्परा के निकट ही आता है। बौद्ध परम्परा में चार प्रकार के ध्यान माने गये हैं।

१) सवितर्क - सविचार-विवेकजन्य प्रीतिसुखात्मक प्रथम ध्यान।

२) वितर्क विचार - रहित - समाधिज प्रीतिसुखात्मक द्वितीय ध्यान।

३) प्रीति और विराग से उपेक्षक हो स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त उपेक्षा स्मृति सुखविहारी तृतीय ध्यानँ।

४) सुख-दुःख एवं सौमनस्य-दौर्मनस्य से रहित असुख-अदुःखात्मक उपेक्षा एवं परिशुद्धि से युक्त चतुर्थ ध्यान।

इस प्रकार चारों शुक्ल ध्यान बौद्ध परम्परा में भी थोड़े शाब्दिक अन्तर के साथ उपस्थित हैं।

योग परम्परा में भी समापत्ति के चार प्रकार बतलाये हैं, जो कि जैन परम्परा के शुक्लध्यान के चारों प्रकारों के समान ही लगते हैं। समापत्ति के वे चार प्रकार निम्नानुसार हैं - १. सवितर्का, २. निर्वितर्का, ३. सविचारा और ४. निर्विचारा।

शुक्लध्यान के स्वामी के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बर मूलपाठ और दिगम्बर मूलपाठ में तो अन्तर नहीं है किंतु 'च' शब्द से क्या अर्थ ग्रहण करना इसे लेकर मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार उपशान्त कषाय एवं क्षीणकषाय पूर्वधरों में चार शुक्लध्यानों में प्रथम दो शुक्लध्यान सम्भव हैं। बाद के दो केवली (सयोगी केवली और अयोगी केवली) में सम्भव हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार आठवें गुणस्थान से चोदहवें गुणस्थान तक शुक्लध्यान सम्भव है। पूर्व के दो शुक्लध्यान सम्भव आठवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती पूर्वधरों के होते हैं और शेष दो तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली के।[१]

जैनधर्म में ध्यान साधना का इतिहास-

जैन धर्म में ध्यान साधना की परम्परा प्राचीनकाल से ही उपलब्ध होती है। सर्वप्रथम हमें आचारांग में महावीर के ध्यान साधना संबंधी अनेक सन्दर्भ उपलब्ध हैं। आचारांग के अनुसार महावीर अपने साधनात्मक जीवन में अधिकांश समय ध्यान साधना में ही लीन रहते थे।[२] आचारांग से यह भी ज्ञात होता है कि महावीर ने न केवल

---

१) तत्त्वार्थ सूत्र ९।३९-४०, २) आचारांग १।९।१।६, १।९।२।४, १।९।२।१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्तवृत्तियों के स्थिरीकरण का अभ्यास किया था। अपितु उन्होंने दृष्टि के स्थिरीकरण का भी अभ्यास किया था। इस साधना में वे अपलक होकर दीवार आदि पर किसी एक बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करते थे। इस साधना में उनकी आंखें लाल हो जाती थीं। और बाहर की ओर निकल आती थीं जिन्हें देखकर दूसरे लोग भयभीत भी होते थे।[१] आचारांग के ये उल्लेख इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि महावीर ने ध्यान साधना की बाह्य और आभ्यन्तर अनेक विधियों का प्रयोग किया था। वे अप्रमत्त (जाग्रत) होकर समाधिपूर्वक ध्यान करते थे। ऐसे भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं कि महावीर के शिष्य प्रशिष्यों में भी यह ध्यान साधना की प्रवृत्ति निरन्तर बनी रही। उत्तराध्ययन में मुनिजीवन की दिनचर्या का विवेचन करते हुए स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया है कि मुनि दिन और रात्रि के द्वितीय प्रहर में ध्यान साधना करें।[२] महावीर कालीन साधकों को ध्यान की कोष्ठोपगत विशेषता आगमों में उपलब्ध होती है। यह इस बात का सूचक है कि उस युग में ध्यान साधना मुनि जीवन का एक आवश्क अंग थी। भद्रबाहु द्वारा नेपाल में जाकर महाप्राण ध्यान की साधना करने का उल्लेख भी मिलता है।[३] इसी प्रकार दुर्बलिकापुष्यमित्र की ध्यान साधना का उल्लेख आवश्यकचूर्णि में है[४] यद्यपि आगमों में ध्यान संबंधी निर्देश तो हैं, किन्तु महावीर और उनके अनुयायियों की ध्यान प्रक्रिया का विस्तृत विवरण उनमें उपलब्ध नहीं।

महावीर के युग में श्रमण परम्परा में ऐसे अनेक श्रमण थे, जिनकी अपनी अपनी ध्यान साधना की विशिष्ट पद्धतियां थीं। इनमें बुद्ध और महावीर के समकालीन किन्तु उनसे ज्येष्ठ रामपुत्त का हम प्रारम्भ में ही उल्लेख कर चुके हैं। आचारांग में साधकों के सम्बन्ध में विपस्सी[५] और पासग[६] जैसे विशेषण मिलते हैं। इससे ऐसा लगता है कि भगवान महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा में भी ज्ञात-दृष्टा भाव में चेतना को स्थिर रखने के लिए विपश्यना जैसी कोई ध्यान साधना की पद्धती रही होगी। यद्यपि विस्तृत विवरणों के अभाव में आज उस पद्धति की सम्पूर्ण प्रक्रिया की चर्चा तो नहीं कर सकते, परंतु आचारांग जैसे प्राचीन आगम में इन शब्दों की उपस्थिति इस तथ्य की सूचक अवश्य है कि उस युग में ध्यान साधना की जैन परम्परा की अपनी कोई विशिष्ट पद्धति थी। यह भी हो सकता है कि साधकों की प्रकृति के अनुरूप ध्यान साधना की एकाधिक पद्धतियां भी प्रचलित रही हों, किन्तु आगमों के रचनाकाल तक वे विलुप्त होने लगी थीं। जिस रामपुत्त का निर्देश भगवान बुद्ध के ध्यान के शिक्षक के रूप में मिलता है उनका उल्लेख जैन परंपरा के प्राचीन आगमों में जैसे सूत्रकृतांग, अंतकृत्दशा, औपपातिक दशा, ऋषिभाषित आदि में होना[७] इस बात का प्रमाण है कि निर्ग्रंथ परम्परा रामपुत्त की ध्यान साधना की पद्धति से प्रभावित थी। बौद्ध परम्परा की विपश्यना और निर्ग्रंथ परम्परा की आचारांग की ध्यान

---

१) आचारांग १।९।१।५, २) उत्तराध्ययन २६।१८,
३) आवश्यक चूर्णि भाग २ पृ. १८७, ४) वही, भाग १ पृ. ४१०
५) आचारांग १।२।५।१२५ (आचार्य तुलसी), ६) वही १।२।३।७३, १।२।६।१८५
७) देखें - Prakrut Proper Names Vol II Page 626

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना में जो कुछ निकटता परिलक्षित होती है, वह यह सूचित करती है कि सम्भवतः दोनों का मूल स्रोत रामपुत्त की ध्यान-पद्धति रही होगी। इस संबंध में तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाना अपेक्षित है।

षट्आवश्यकों में कायोत्सर्ग को भी एक आवश्यक माना गया है। कायोत्सर्ग ध्यान साधना पूर्वक ही होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। प्रतिक्रमण में अनेक बार कायोत्सर्ग (ध्यान) किया जाता है। वर्तमान काल में भी यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से जीवित है। आज भी ध्यान की इस परम्परा में तत्संबंधी दोषों के चिन्तन के अतिरिक्त नमस्कार मंत्र, चतुर्विंशतिस्तव के माध्यम से पंचपरमेष्टी अथवा तीर्थंकरों का ध्यान किया जाता है। मात्र हुआ यह है कि ध्यान की इस सम्यग् क्रिया में, जो सजगता अपेक्षित थी, वह समाप्त हो गई है और ये सब ध्यान संबंधी प्रक्रियाएं रूढि मात्र बनकर रह गई हैं। यद्यपि इन प्रक्रियाओं की उपस्थिति से यह ज्ञात होता है कि ध्यान की इन प्रक्रियाओं में चेतना को सतत रूप से जाग्रत या ज्ञाता-दृष्टा भाव में स्थिर रखने का प्रयास किया जाता रहा है।

आगम युग तक जैन धर्म में ध्यान का उद्देश्य मुख्य रूप से आत्मशुद्धि या चरित्रशुद्धि ही था अथवा यों कहें कि वह चित्त को समभाव में स्थिर रखने का प्रयास था।

मध्ययुग में जब भारत में तंत्र और हठयोग संबंधी साधनाएं प्रमुख बनीं तो ध्यान की प्रक्रिया में परिवर्तन आया। आगमिक काल में ध्यान साधना में शरीर, इन्द्रिय, मन और चित्त वृत्तियों के प्रति सजग होकर चेतना को दृष्टा भाव या साक्षीभाव में स्थिर किया जाता था, जिससे शरीर और मन के उद्वेग और आकुलताएं शान्त हो जाती थीं। दूसरे शब्दों में वह चैत्तसिक समत्व अर्थात् सामायिक की साधना थी, जिसका कुछ रूप आज भी विपश्यना में उपलब्ध है। किन्तु जैसे-जैसे भारतीय समाज में तंत्र और हठयोग का प्रभाव बढ़ा वैसे-वैसे जैन साधना पद्धति में भी परिवर्तन आया। जैन ध्यान पद्धति में पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ आदि ध्यान की विधियाँ और पार्थिव, आग्नेयी, वायवी और वारुणी जैसी धारणाएं सम्मिलित हुईं। बीजाक्षरों और मंत्रों का ध्यान करने की परम्परा विकसित हुई और षट्चक्रों के भेदन का प्रयास भी हुआ।

यदि हम जैन परम्परा में ध्यान की प्रक्रिया का इतिहास देखते हैं तो यह स्पष्ट लगता है कि उस पर अन्य भारतीय ध्यान एवं योग की परम्पराओं का प्रभाव आया है, जो हरिभद्र के पूर्व से ही प्रारंभ हो गया था। हरिभद्र ने उनकी ध्यान विधि को लेकर भी उसमें अपनी परम्परा के अनुरूप बहुत कुछ परिवर्तन किये थे। मध्ययुग की जैन ध्यान साधना विधि उस युग की योग-साधना विधि से पर्याप्त रूप से प्रभावित हुई थी। मध्ययुग में ध्यान साधना का प्रयोजन भी बदला। जहां प्राचीन काल में ध्यान साधना का प्रयोजन मात्र आत्म-विशुद्धि या चैत्तसिक समत्व था, वहां मध्य युग में उसके साथ विभिन्न ऋद्धियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और लब्धियों की चर्चा भी जुड़ी और यह माना जाने लगा कि ध्यान साधना से विधि अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। ध्यान की प्रभावशीलता को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक तो था, किन्तु इसके अन्य परिणाम भी सामने आये। जब अनेक साधक इन हठयोगी साधनाओं के माध्यम से ऋद्धि या लब्धि प्राप्त करने में असमर्थ रहे तो उन्होंने यह मान लिया कि वर्तमान युग में ध्यान साधना संभव ही नहीं है। ध्यान साधना की सिद्धि केवल उत्तम संहनन के धारक मुनियों अथवा पूर्वधरों को ही संभव थी। ऐसे भी अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जिनमें कहा गया है कि पंचमकाल में उच्चकोटि का धर्मध्यान या शुक्लध्यान संभव नहीं है। मध्ययुग में ध्यान प्रक्रिया में कैसे-कैसे परिवर्तन हुए, यह बात प्राचीन आगमों और तत्त्वार्थ के उल्लेखों की तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं, दिगम्बर जैन पुराणों, श्रावकाचारों एवं हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि के ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। मध्यकाल में ध्यान की निषेधक और समर्थक दोनों धाराएं साथ-साथ चलीं। कुछ आचार्यों ने कहा कि पंचमकाल में चाहे शुक्लध्यान की साधना संभव न हो, किन्तु धर्म-ध्यान की साधना तो संभव है। मात्र यह ही नहीं मध्ययुग में धर्म ध्यान के स्वरूप में काफी कुछ परिवर्तन किया गया और उसमें अन्य परम्पराओं की अनेक धारणाएं सम्मिलित हो गयीं। इस युग में ध्यान संबंधी स्वतंत्र साहित्य का भी पर्याप्त विकास हुआ। झाणज्झयण (ध्यानशतक) से लेकर ज्ञानार्णव, ध्यानस्तव आदि अनेक स्वतंत्र ग्रंथ भी ध्यान पर लिखे गये। मध्ययुग हठयोग और ध्यान के समन्वय का युग कहा जा सकता है। इस काल में जैन ध्यान पद्धति योग परम्परा से, विशेष रूप से हठयोग की परम्परा से पर्याप्त रूप से प्रभावित और समन्वित हुई।

आधुनिक युग तक यही स्थिति चलती रही। आधुनिक युग में जैन ध्यान साधना की पद्धति में पुनः एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। इस क्रान्ति का मूलभूत कारण तो श्री सत्यनारायणजी गोयनका के द्वारा बौद्धों की प्राचीन विपश्यना साधना पद्धति को बर्मा से लेकर भारत में पुनर्स्थापित करना था। भगवान् बुद्ध की ध्यान साधना की विपश्यना पद्धति की जो एक जीवित परम्परा किसी प्रकार से बर्मा में बची रही थी, वह सत्यनारायणजी गोयनका के माध्यम से पुनः भारत में अपने जीवंत रूप में लौटी। उस ध्यान की जीवंत परम्परा के आधार पर भगवान् महावीर की ध्यान साधना की पद्धति क्या रही होगी इसका आभास हुआ। जैन समाज का यह भी सद्भाग्य है कि कुछ जैन मुनि एवं साध्वियां उनकी विपश्यना साधना-पद्धति से जुड़े। संयोग से मुनि श्री नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) जैसे प्राज्ञ साधक विपश्यना साधना से जुड़े और उन्होंने विपश्यना ध्यान पद्धति और हठयोग की प्राचीन ध्यान पद्धति को आधुनिक मनोविज्ञान एवं शरीर-विज्ञान के आधारों पर परखा और उन्हें जैन साधना परम्परा से आपूरित करके प्रेक्षाध्यान की जैन धारा को पुनर्जीवित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है। यह स्पष्ट है कि आज प्रेक्षाध्यान प्रक्रिया जैन ध्यान की एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में अपना अस्तित्व बना चुकी है। उसकी वैज्ञानिकता और उपयोगिता पर भी कोई प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जा सकता है, किन्तु उसके विकास में सत्यनारायणजी गोयनका द्वारा भारत लायी गयी विपश्यना ध्यान की साधना पद्धति के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। आज प्रेक्षाध्यान पद्धति निश्चित रूप से विपश्यना की ऋणी है। इसके गोयनकाजी का ऋण स्वीकार किए बिना हम अपनी प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं कर सकेंगे। साथ ही इस नवीन पद्धति के विकास में युवाचार्य महाप्रज्ञजी का जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उसे भी नहीं भुलाया जा सकता है। उन्होंने विपश्यना से बहुत कुछ लेकर भी उसे प्राचीन हठयोग की षट्चक्र भेदन आदि की अवधारणा से तथा आधुनिक मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान से जिस प्रकार समन्वित और परिपुष्ट किया है, वह उनकी अपनी प्रतिभा का चमत्कार है। इस आलेख में विस्तार से न तो विपश्यना के सन्दर्भ में और न प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में कुछ कह पाना संभव है, किन्तु यह सत्य है कि ध्यान साधना की इन पद्धतियों को अपना कर जैन साधक न केवल जैन ध्यान पद्धति के प्राचीन स्वरूप का कुछ आस्वाद करेंगे, अपितु तनावों से परिपूर्ण जीवन में आध्यात्मिक शान्ति और समता का आस्वाद भी ले सकेंगे।

सम्यक् जीवन में जीने के लिए आज विपश्यना और प्रेक्षाध्यान पद्धतियों का अभ्यास और अध्ययन आवश्यक है। हम युवाचार्य महाप्रज्ञ के इसलिए भी ऋणी है कि उन्होंने न केवल प्रेक्षाध्यान पद्धति का विकास किया है, अपितु उसके अभ्यास केन्द्रों की स्थापना भी की। साथ ही जीवन विज्ञान ग्रंथमाला के माध्यम से प्रेक्षाध्यान से संबंधि लगभग ४८ लघुपुस्तिकाएं लिखकर जैन ध्यान साहित्य को महत्वपूर्ण अवदान भी दिया है।

यह भी प्रसन्नता का विषय है कि विपश्यना और प्रेक्षा की ध्यान पद्धतियों से प्रेरणा पाकर आचार्य नानालालजी ने समीक्षण ध्यान विधि को प्रस्तुत किया है। इस संबंध में एक-दो प्रारंभिक पुस्तिकाएं भी निकली हैं, किन्तु प्रेक्षाध्यान विधि की तुलना में उनमें न तो प्रतिपाद्य विषय की स्पष्टता है और न वैज्ञानिक प्रस्तुतिकरण ही। क्रोध समीक्षण आदि एक-दो पुस्तकें और भी प्रकाश में आयी हैं किन्तु इस पद्धति को वैज्ञानिक और प्रायोगिक बनाने के लिए अभी उन्हें बहुत कुछ करना शेष रहता है।

वर्तमान युग और ध्यान

वर्तमान युग में जहां एक ओर योग और ध्यान संबंधी साधनाओं के प्रति आकर्षण बढ़ता है, वहीं दूसरी ओर योग और ध्यान के अध्ययन और शोध में भी विद्वानों की रुचि जागृत हुई है। आज भारत की अपेक्षा भी पाश्चात्य देशों में योग और ध्यान के प्रति विशेष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकर्षण देखा जाता है। क्योंकि वे भौतिक आकांक्षाओं के कारण जीवन में जो तनाव आ गये हैं, उससे मुक्ति चाहते हैं। आज भारतीय योग और ध्यान की साधना पद्धतियों को अपने-अपने ढंग से पश्चिम के लोगों की रुचि के अनुकूल बनाकर विदेशों में निर्यात किया जा रहा है। योग और ध्यान की साधना में शारीरिक विकृतियों और मानसिक तनावों को समाप्त करने की जो शक्ति रही हुई है उसके कारण भोगवादी और मानसिक तनावों से संत्रस्त पश्चिमी देशों के लोग चैत्तसिक शान्ति का अनुभव करते हैं और यही कारण है कि उनका योग और ध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। इन साधना पद्धतियों का अभ्यास कराने के लिए भारत से परिपक्व एवं अपरिपक्व दोनों ही प्रकार के गुरु विदेशों की यात्रा कर रहे हैं। यद्यपि अपरिपक्व, भोगाकांक्षी तथाकथित गुरुओं के द्वारा ध्यान और योग साधना का पश्चिम में पहुंचना भारतीय ध्यान और योग परम्परा की मूल्यवत्ता एवं प्रतिष्ठा दोनों ही दृष्टि से खतरे से खाली नहीं है। आज पश्चिम में भावातीत ध्यान, साधना भक्ति वेदान्त, रामकृष्ण मिशन आदि के कारण भारतीय ध्यान एवं योग साधना के प्रति लोकप्रियता बढ़ी, वही रजनीश आदि के कारण उसे एक झटका भी लगा है। आज श्री चित्तमुनिजी, आचार्य सुशीलकुमारजी, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल आदि ने जैन ध्यान और साधनाविधि से पाश्चात्य देशों में बसे हुए जैनों को परिचित कराया है। तेरापंथ की कुछ जैन समणियों ने भी विदेशों में जाकर प्रेक्षाध्यान विधि से उन्हें परिचित कराया है। यद्यपि इनमें कौन कहां तक सफल हुआ है यह एक अलग प्रश्न है। क्योंकि सभी के अपने अपने दावे हैं। फिर भी इतना तो निश्चित है कि आज पूर्व और पश्चिम दोनों में ही ध्यान और योग साधना के प्रति रुचि जागृत हुई है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि योग और ध्यान की जैन विधि सुयोग्य साधकों और अनुभवी लोगों के माध्यम से ही पूर्व-पश्चिम में विकसित हो, अन्यथा जिस प्रकार मध्ययुग में हठयोग और तंत्रसाधना से प्रभावित होकर भारतीय योग और ध्यान परम्परा विकृत हुई थी उसी प्रकार आज भी उसके विकृत होने का खतरा बना रहेगा और लोगों की उससे आस्था उठ जावेगी।

ध्यान एवं योग संबंधी शोध कार्य

इस युग में गवेषणात्मक दृष्टि से योग और ध्यान संबंधी साहित्य को लेकर पर्याप्त शोधकार्य हुआ है। जहां भारतीय योग साधना और पतञ्जलि के योगसूत्र पर पर्याप्त कार्य हुए हैं, वहीं जैनयोग की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ है। ध्यानशतक, ध्यानस्तव, ज्ञानार्णव आदि ध्यान और योग संबंधी ग्रंथों की समालोचनात्मक भूमिका और हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयत्न कहा जा सकता है। पुनः हरिभद्र के योग संबंधी ग्रंथों का स्वतंत्र रूप से तथा चतुष्टय के रूप में प्रकाशन इस कड़ी का एक अगला चरण है। पं. सुखलालजी का 'समदर्शी हरिभद्र', अर्हंतदास बंडबोध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगे का पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान से प्रकाशित 'जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन', मंगला सांड का भारतीय योग आदि गवेषणात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रकाशन कहे जा सकते हैं। अंग्रेजी भाषा में विलियम जेम्स का 'जैन योग', टाटिया की 'स्टडीज इन जैन फिलासफी', पद्मनाभ जैनी का 'जैन पाथ आफ प्यूरिफिकेशन' आदि भी इस क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं। जैन ध्यान और योग को लेकर लिखी गई मुनिश्री नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) की 'जैन योग' 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण', 'किसने कहा मन चंचल है', 'आभामण्डल' आदि तथा आचार्य तुलसी की प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा आदि कृतियां इस दृष्टि से अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। उनमें पाश्चात्य मनोविज्ञान और शरीर-विज्ञान का तथा भारतीय हठयोग आदि की पद्धतियों का एक सुव्यवस्थित समन्वय हुआ है। उन्होंने हठयोग की षट्चक्र की अवधारणा को भी अपने ढंग से समन्वित किया है। उनकी ये कृतियां जैन योग और ध्यान साधना के लिए मील के पत्थर के समान है।

इस प्रकार जैन परम्परा में ध्यान और योग के अध्ययन एवं तत्संबंधी ग्रंथों के प्रकाशन का जो क्रम चल रहा है उसी श्रृंखला की एक कड़ी साध्वीश्री प्रियदर्शनाजी का यह ग्रंथ - ''जैन साधना पद्धति में ध्यान योग'' है। साध्वीश्रीजी ने इस ग्रंथ में अत्यंत परिश्रम पूर्वक न केवल जैन ध्यानयोग की परम्परा का विवरण प्रस्तुत किया है अपितु एक दृष्टि से संपूर्ण जैन धर्म और साधना पद्धति को ही प्रस्तुत कर दिया है। यही कारण है कि यह ग्रंथ आकार में बहुत बड़ा हो गया है। उनके इस अध्ययन की व्यापकता और सर्वांगीणता सराहनीय है, फिर भी इसके बृहद् आकार में आनुषंगिक विषयों के विस्तृत विवरण के कारण कहीं-कहीं प्रतिपाद्य विषय गौण होता सा प्रतीत होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org